

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन पुरातत्त्व सम्बन्ध पाण्मासिक पत्र

भाग २२

जून १९५१

किरण १

सम्पादक

प्रोफसर ए० एन० उपाध्य एम ए , डी लड्
प्रोफसर ज्योति प्रसाद जैन एम ए , एल एल बी
बाबू कामता प्रसाद जैन, एम आर ए एस डा एल,
श्री ए० क भुजरली शास्त्री विद्याभूषण,
ए० नमिचन्द्र जैन शास्त्री, योतिपाचाय, साहित्यरत्न

जैन सिद्धान्त भवन द्वारा द्वारा प्रकाशित

विषय-सूची

| | |
|--|----|
| हस्तिमल्ल के पूर्ववर्ती जैन सस्कृत नाटककार—श्रीयुत् अग्रचन्द्र नाहटा | १ |
| जोधपुर संग्रहालय की अज्ञात कुछ जैन घातु मूर्तियों—श्रीयुत् रत्नचन्द्र अग्रवाल, एम० ए० | ८ |
| दे गढ़ और उमका कला वैभव—प्र० ज्योति प्रसाद जैन एम० ए०, एल० एन० वी, लखनऊ.... | ११ |
| महावीर स्वत—श्री प० के० भुजवली शास्त्री, विद्याभूषण, मूढ़विद्वा | २३ |
| अहिमा और पाँच जैनाचार्य—प० नेमिचन्द्र शास्त्री | २८ |
| प्रमुख दि० जैनाचार्यों का विवरण | ४४ |
| मूलसद्य भट्टारक गुरु नामावली—श्री अग्रचन्द्र नाहटा | ५१ |
| कल्पित कथा समीक्षा | ६० |
| साहित्य समीक्षा— | |
| (१) सस्कृत साहित्य में आयुर्वेद | ६६ |
| (२) और स्वाई घटती गई... | ६७ |
| (३) क्या मैं अन्दर आ सकता हूँ ? | ६९ |
| (४) गीत सगम | ६९ |

—श्री नेमिचन्द्र शास्त्री

श्री सारंगधारीय ज्ञान मन्दिर, जयपुर
 आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञान मण्डल, जयपुर



श्रीजिनाय नमः



जैन पुरातत्त्व और इतिहास विषयक पुणमासिक पत्र

भाग - ०

जून, १९५४। ज्येष्ठ वीर नि० सं० २४०१

किरण १

हस्तिशिल के पूर्ववर्ती जैन संस्कृत काटककार

[श्रीयुत् अगारचन्द नाट्टा]

जैन साहित्य बहुत ही विशाल एवं वैविध्यपूर्ण है। पर अभी तक उसकी पूरी जानकारी प्रकाश में नहीं आई। आ कुछ जानकारी प्रकाश में आई है, उससे भी समुचित लाभ नहीं उठाया जाता। साम्प्रदायिक भेद भाव के कारण जैनेतर विद्वानों की ही तो बात ही क्या जैन विद्वानों की भी ज्ञान स्थिति यह है कि श्वेताम्बर विद्वानों को दिग्गबर साहित्य का अधिक परिचय नहीं है और निगमबर विद्वानों को श्वेताम्बर साहित्य की जानकारी और भी कम है। वास्तव में श्वेताम्बर और निगमबर दोनों का साहित्य एक दूसरे का पूरक है। बिना दोनों सम्प्रदायों के साहित्य की सम्मिलित जानकारी के जैन साहित्य की विशालता और महत्व ठीक से जाना ही नहीं जा सकता। अतः हमें अब प्रत्येक विषय पर जिनसे से पूर दोनों सम्प्रदायों के साहित्य की जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए और तटस्थतापूर्वक दोनों सम्प्रदाय के विद्वान् के प्रार्थना का अध्ययन सम्पादन कर ज्ञान वृद्धि करते रहना चाहिए।

निगम साहित्य बहुत महत्त्व का होने पर भी उसकी पूरी जानकारी देनेवाला कोई भी "दि० साहित्य का इतिहास" प्रकाशित नहीं हुआ। अतः उसकी जानकारी प्राप्त करने में बड़ी ही अमुनिषा दानी है पर श्वेताम्बर साहित्य की जानकारी प्राप्त करने में वैधी कठिनाई नहीं है। क्योंकि जैन साहित्य महारथी एवं मोहन लाल दलवीच द देसाई ने २५ वर्ष की निरन्तर मेहनत द्वारा ४ महाग्रन्थ प्रकाशित कर लिये हैं। जिनमें श्वेताम्बर साहित्य की जानकारी बहुत अच्छे रूप में मिल जाती है। यद्यपि कोई भी साहित्य का इतिहास समूचे साहित्य की जानकारी नहीं दे सकता। क्योंकि प्रकाशित ग्रन्थों की अपेक्षा अप्रकाशित ग्रन्थ ही अधिक होते हैं और उनकी

प्रतियो जहाँ तक्षे इतने अधिक स्थानों और व्यक्तियों के पास फैली हुई होती है कि उन सभी सूची बनाना भी कम ही संभव है। नित्य नये नये सच जानने की मिलते हैं और उनमें प्रायः अज्ञात ग्रन्थ मिलते ही रहते हैं। इसलिए वेमे जो देसाई द्वारा संकलित चार ग्रन्थों में उल्लिखित ग्रन्थों की अपेक्षा श्वेताम्बर साहित्य बहुत अधिक प्रियाल है। फिर भी मुख्य-मुख्य भण्डारों की सूचियों प्रकाशित हो चुकी हैं या बन चुकी हैं उनमें से जितने अधिक ग्रन्थालयों की सूचियों का उपयोग वे कर सकते थे या करना संभव हुआ। देसाई ने बहुत ही लगन, वैय. परिश्रम और प्रयत्नपूर्वक प्रयत्न से अधिक जानकारी देने का भरसक प्रयत्न किया है। और जहाँ तक बन सजा है प्रतियों को स्वयं देखकर पात्र पढ़ताल कर और दूसरे प्रामाणिक उल्लेखों के उपयोग द्वारा अपने इन ग्रन्थों को भूल भ्रातियों से बहुत ही बचाया है। इसलिए उनकी शुद्धता व प्रामाणिकता बहुत अधिक है वेमे उसके बाद प्रोफेसर हरीदामोहन बेलनगर - "जिन स्तकोप नामक महत्वपूर्ण ग्रन्थ (सूची) भाण्डार पर प्राच्यविद्या संशोधन, पटना में सन् १९४४ में प्रकाशित हुआ और उसमें बेलनगर ने २१ सूचियों एवं रिपोर्टों के आधार से अपने इन ग्रन्थों को तैयार किया है, इसमें भी श्वेताम्बर साहित्य का विवरण ही अधिक आ पाया है यद्यपि उन्होंने दिग्गम्य ग्रन्थों की जानकारी देने का भी प्रयत्न किया है। पर वास्तव में दिग्गम्य भण्डारों की सूचियाँ उन्हें बहुत ही कम प्राप्त हुईं। प्रायः अधिक विवरण नहीं आ सका। जिन स्तकोप रिपोर्टों व सूचियों के आधार से तैयार हुआ है स्वयं ग्रन्थ कम ही देने गये हैं और उसमें भूल भ्रातियों काफ़ी रह गई हैं।

देसाई के श्वेताम्बर साहित्य सम्बन्धी ४ ग्रन्थों को प्रत्येक जैन विद्वानों को मँगाना और देखते रहना चाहिए। जैन रिफ़ेरेन्स (संदर्भ) ग्रन्थों में इनका स्थान बहुत ही ऊँचा व महत्व का है। इन ग्रन्थों के नाम हैं जैन साहित्य में संक्षिप्त इतिहास और २-२-२ जैन गुजर कवियों भाग १-२-२। इनमें से पहला ग्रन्थ १२५० माहों चारहसो पृष्ठों का है जिसका मूल्य केवल ६) रुपये है। संस्कृत, प्राकृत, अत्रश और राजस्थानी, गुजराती के श्वेताम्बर जैन साहित्य का ही इतिहास नहीं पर इनमें श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय के ढाई हजार वर्षों का संक्षिप्त इतिहास भी दे दिया गया है। सन् १९३३ में यह प्रकाशित हुआ। लेखक ने २०-२५ वर्ष के सशोधनों का यह नवनीत है। करीब १० वर्ष तो इस ग्रन्थ की तैयारी व लेखन में लगे हैं। इसमें लगभग ६० चित्र तथा स्थान दिये गये हैं और चित्रों का परिचय भी विस्तार से ६० पृष्ठों में दिया गया है। इस ग्रन्थ में ८ विभाग हैं और प्रत्येक विभाग के कई प्रकरण हैं। १९६५ पैराग्राफ हैं और ५७७ (फुटनोट) हैं जो ८३२ पृष्ठों में हैं। इसके बाद २३ परिशिष्टों के १८८ पृष्ठ केवल नामों की सूची के हैं इसीसे इन ग्रन्थ के निर्माण में कितना श्रम किया गया है और यह ग्रन्थ कितना महत्वपूर्ण है इसका अनुभव पाठक खुद करें, लेखक ने निवेदन के पृष्ठ

१६ में रहा हो मामूम निर्या है कि 'इस ग्रंथ के तैयार करने में मैंने रात दिन काम किया है और श्रमता आराम न थाइ भी कब नरने रने दो है'। उनही आर्थिक स्थिति साधारण था, वे हाईको के रोजन से इमीसे अपने परिवार का पालण करते थे फिर भी साहित्य का रस उन्हें इतना परररर लगा था कि रात को पत्र सारा परिार सा जाता, वे जागृत हाकर काम करने में डट जाते और चर्हा तक नांद बेचैन न कर दे काम करते ही रहते। अपने-भावहारिक कामों से तनिक भी अवकाश मिला कि निवने पन्ने में जुग गय। जुट्टेयों के जिनो में वे अपने स्वच से कभी कभी कभी की जा कर नन्द सामग्री एररिन करते। प्रथ देवने बागा तक भी उनका कोई प्रयक नही था। उहीने लिखा है कि 'इनमें पात्रुत जिन रात धम लेनामा में कचास गली न थी। समय लः पानाने स्वच जुदे स्थीे पत्र पुस्तक भएडारो जोद, तमाठी आवा तेमाची मलेला तमम साधनों ने प्राप्त करी सग्रद करी, तेमापोनीची टाचण्यो करिलेवा, तेररथा प्रमाणों आदि प्रररण्यो लववा, रावा भावला तेवानु भूक शोभन करी, तेने पाड्या मगावि सुगरवना प्रेसकों, तेनी विमृत्त प्रक गणिका कर येगेरे एररते पडे कोरनी पण मण्य वगर एक प्रक रीरर चेराती पण मदद बगर करीने आ पुस्तक में गुमरात ने वरणे सार घया छु'।

उनका दूसरा ग्रंथ जिसम १३ वीं शताब्दी से २ वीं तकके इनाम्बर जैन कविता और गय लेखकों के गुणरानी, राजस्थाना व हिन्दी गद्या का आग व विवरण है जैा गुणर कविता नामक ३ भागों में ४००० पृष्ठों का है। ऐसे महान् साहित्य मेची के सामने कितना धिरा मुक्रेगा। निव काय के लिए बीछे विद्वान् और हारों स्पये स्वच के चाहिए कि उसे एक विद्वान ने अरानी निरंतर की लगन और साधना से सम्पन्न कर दिया। यन् दिनने महान् गौरव की बात है। दूसरे विद्वाना को उनका अनुसरण करना चाहिये।

दिगम्बर साहित्य की जानकारी प्रकाश में लाने का कार्य कुछ वय पून वार सेना मन्दिर ने शारम किया था पर अब उक्त नियमित व पत्ररिघन कराने का कार्य महावीर तीथ कमेटी जयपुर करवा रही है पर उनके पास भी कलूरखन्द काठनीवाल एक ही पक्ति है। काय की गुहवा का देखने हुए ५१० विद्वान् इस काय के लिए नियुक्त किये जाने चाहिए, अयथा जिनम्बर जैन समाज व विद्वान् खूब ध्यान रगें कि दिगम्बर साहित्य का इतिहास जो लिखा जा रहा है वह बहुत ही अरूण रहेगा। सैकड़ों महत्त्व के ग्रंथ उसमें उल्लखित नहीं हो सकेंगे। सबसे पहला काम समस्त दिगम्बर ग्रंथ भएडारो की सूची बनाने का है। बिना सूची बने साहित्य का इतिहास पूण्य और अरुदे रूप में लिखा जा ही नहीं सकता।

अब मैं लेख के मूल विषय पर आता हूँ। वारवाणी के १२ नवम्बर १९५५ के अंक में पब्लिश चैनमुटादाशनी का सम्पादकीय अग्र लेख "महाकवि इस्तिमल्ल और उनका विद्वान्त कौरव नाटक" शीषक छगा है। उसके दूसरे पैराग्राफ में जैन संस्कृत नाटकों की कमी और इस्तिमल्ल

को पहला जैन नाटककार बतलाते हुए लिखा है "जैन कवियों ने भी संस्कृत भाषा में नाटकों की रचना की है। किन्तु महाकवि हस्तिमल्ल के पहले के किसी भी जैननाटककार का पता अभी तक नहीं चला। संभवतः ये पहले जैन कवि हैं जिन्होंने जैन साहित्य नाटकों पर अपनी कलम चलाई और सफल हुए। हाँ इनके कुछ पहले मोहगन पराजय नामक प्रतीक नाटक के लेखक कवि यशपाल अवश्य हो गये हैं। जैनों का अधिकांश संस्कृत साहित्य नष्ट कर दिया अथवा नष्ट हो गया है इसलिए आज हम यह कहने की स्थिति में नहीं हैं कि हस्तिमल्ल के अतिरिक्त भी कोई नाटककार हुए हैं या नहीं" ?

दि० नाटककार हस्तिमल्ल का समय विक्रम संवत् १३४७ के लगभग का बतलाया गया है। वास्तव में पंडित चैनसुखदासजी जैन संस्कृत साहित्य के बड़े ही प्रेमी विद्वान् हैं और साथ ही उनमें साम्प्रदायिक सङ्कुचित वृत्ति न होकर उदार और विमल भावना है इसलिए उन्होंने जो उपर्युक्त शब्द लिखे हैं वे किसी साम्प्रदायिक वृत्ति के कारण नहीं पर हम लोगों का सामाजिक और धार्मिक दौंचा ही ऐसा है कि हम अपने सम्प्रदाय से भिन्न सम्प्रदाय के ग्रन्थों की जानकारी ही प्रायः नहीं रखते तो अध्ययन का तो अवकाश ही क्यों ?

वास्तव में पंडित चैनसुखजी का उपर्युक्त कथन श्वेताम्बर जैन संस्कृत नाटक ग्रन्थों की अज्ञानकारी का द्योतक है। हस्तिमल्ल के पहले श्वेताम्बर विद्वानों ने करीब बीस नाटक बनाये जिनमें से १०-१२ तो आज भी प्राप्त हैं। उनका परिचय कराना ही इस लेख में अभीष्ट है।

राजस्थान और गुजरात में १२ वीं १३ वीं शताब्दी में देव मन्दिरों में देवों या मन्दिरों की वर्षगोठ, वसंतोत्सव, यात्रा महोत्सव आदि प्रसंगों में नाटक खेलने का खूब प्रचार था। श्वेताम्बर जैन कवियों का प्राचीन रास, फागु, चार्चरी आदि अपभ्रंश और लोक भाषा की प्राचीन रचनाएँ प्रायः ऐसे प्रसंगों में नृत्य, अभिनय, गायन के लिए ही बनाई गयी थीं। संस्कृत भाषा का भी उन दिनों बहुत अन्ध्रा प्रचार था। महाराजा भोज के शासन-प्रदेश और राज्यकाल के लिए तो यह प्रसिद्ध है कि उस समय संस्कृत भाषा उन दिनों विद्वान् भोज ही नहीं, जन साधारण में भी प्रचलित थी। ऐसे समय के आसपास में उपर्युक्त माङ्गलिक उत्सवों में संस्कृत नाटक भी अधिकतया खेले जाने स्वाभाविक थे। गुजरात के प्रतापशाली और साहित्य प्रेमी महाराजा सिद्धराज जयसिंह के समय से मजीश्वर वस्तुपाल तेजपाल के समय तक तो संस्कृत नाटकों का खूब ही प्रचार रहा और ये सब श्वेताम्बर नाटककार दि० हस्तिमल्ल के पूर्ववर्ती हैं अतः इनका सङ्क्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है—

महाराज सिद्धराज जयसिंह की विद्वत् सभा में दिगम्बर विद्वान् कुमुदचन्द्र के साथ श्वेताम्बर वादिदेवसुरि का शास्त्रार्थ सन् ११८१ में हुआ था उस प्रसंग का बहुत ही सरस वर्णन यशसुरिचन्द्र रचित मुद्रित कुमुदचन्द्र प्रकरण में मिलता है। इस नाटक के रचयिता यशचन्द्र (सपाद लक्ष्मी

नामर (गमोर अजगर आदि प्रदेश) के राजा के अतिथि व मोद प्रतीय थे। इनका दूसरा नाटक राजीमनि प्रबाध है जिसकी प्राचीन प्रति भीमावर क चम्पलालजी के सभालय में लिला हुद प्राप्त है। उसकी प्रस्तावना में लघुचार के मुल से कहलाया गया है कि यशरवद्र ने दो महाकाव्य और चार नाटक लिखे थे पर उनके ये दो महाकाव्य और उनके ये नाटक अभी तक अप्राप्य और अज्ञात हैं "सुदित कुमुदचन्द्र" बहुत प्रसिद्ध है और प्रकाशित हो चुका है।

श्वेताम्बर जैन नाटककारों और नाट्यशास्त्र विद्योपदेशों में महाकवि रामचन्द्र का स्थान सबसे ऊँचा व प्रथम है। ये कलिकाल सप्तम आचार्य हेमचन्द्र के पदपर महान् विद्वान् शिष्य थे। इन्होंने आ.स. ही ११ सस्कृत नाटकों की रचना की है। जिनमें से नव विलास, सत्य हरिश्चन्द्र, निमग भीम द्वायोग और कौमुदी मिशानन्द ये चार नाटक छत्र भी चुके हैं। सत्य हरिश्चन्द्र नाटक सन् १९०३ में इटालियन वर्तमान से भी प्रकाशित हो चुका है। अगले सात नाटक ये हैं। शकुविलास, जदुविलास महिबल्ल मकरन्द प्रकरण, प्रयागाविद्वय, रोहिणी मृगयाक प्रकरण, वनमाला नाटिका और यदुवाभ्युदय। इनमें से कई तो प्राप्त भी नहीं हैं।

रामचन्द्र नाटककार होने के अतिरिक्त नाट्यशास्त्र के महान् आचार्य थे। अपने मुकुमार्दक साथ इन्होंने 'नाट्यदण्ड' नामक वृत्ति सहित नाट्यशास्त्र का महत्वपूर्ण ग्रंथ बनाया। अग्रे विषय का यह बहुत ही सुन्दर और मौलिक ग्रंथ है। इसमें ४४ सस्कृत नाटकों के अवतरण हैं जिनमें से बहुत स अज्ञ अप्राप्य हैं। इनमें विद्यानन्द के देवीवद्र गुण नाटक, जिसके अग्रे अवतरण नाट्यदण्ड में पाये जाते हैं जो गुणद्वय व इतिहास पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है। इग्रे अवतरणों में जाये चुके अज्ञ मिले हैं उनके आधार से कई राजाल मुग्धी व 'भुव स्वामिनी देवी' नामक ग्रंथ की रचना की है।

रामचन्द्र का उल्लेखनीय विरोध प्रबाध शतकवृ है। इस प्रबाधग्रंथ में एक प्राचीन लुवी के अनुसार द्वादश रूप नाटक आदि स्वरूप की जानकारी ५ हजार श्लोक परिमित की १० रूपों के गणना में इनका बड़ा विवेकात्मक ग्रंथ यह अद्वितीय था। पर रोद है अब प्राप्त नहीं होता। रामचन्द्र का 'नाट्य दण्ड' ग्रंथ गायकनाथ औरियटल विरिण से प्रकाशित हो चुका है।

आचार्य रामचन्द्र के एक दूसरे शिष्य देवचन्द्र के चन्द्रलेखा विषय प्रकरण नामक ऐतिहासिक नाटक की ताकपत्रीय प्रति त्रिभुवन के सभालय में है। महाराणा कुमारपाल ने सभालय के राजा अजायला को हराया था। कुमारपाल के उस बीरत्व का वर्णनात्मा यह प्रथमात्मक नाटक है। इसकी ताकिका "चन्द्रलेखा" विद्यापती हैं डा० भागीलाल शर्मा के महापुराण यह चन्द्रलेखा अजायला की बहन जलदया देवी का विवाह कुमारपाल से हुआ। यह नाटक पाटन के कुमार विहार ने अजितनाथ यात्रा महोत्सव के प्रसंग में कुमारपाल की समा के परिवर्तन के लिए लिखा था। सन् १२०७ के लगभग इसकी रचना हुई।

देवचन्द्र के "मानमुद्रा भंजन" नामक नाटक का उल्लेख मिलता है पर यह अब प्राप्त नहीं। कुमारपाल के गद्दीवर अजयपाल के मंत्री यशपाल का "नाट्यप्रसंग नाटक" एक रूपक है। जो सन् १२२६ से १२३२ के बीच रचा गया है। कुमारपाल ने कृपानुन्दरी से सन् १२१६ मगध मुद्री २ को विवाह किया अर्थात् कुमारपाल इस तिथि को पणत जैनी बने उन्होंने राज्यभर में पशु बच और मत ब्यसन का निषेध किया, 'प्रपुत्रीय के धन का जव्व करने का कानून बन्द किया इत्यादि महत्व की बातों का इसमें निर्देश है। इस नाटक का मूल्य विषय कुमारपाल के द्वारा मोदगजा के पणतय का है। यह नाटक भी छुन चुका है। यह नाटक भी वीर यात्रा महोत्सव प्रसंग में खेला गया था।

महाराजा गुजरात के दृष्ट मित्र प्रद्याचन्द्र महावलि भीमाल के पौत्र विजयपाल का 'द्रीपदी स्वयंवर' नाटक मुनिजिनविजयजीने सम्पादितकर प्रकाशित कर दिया है इसकी रचना सन् १२५१ से १२५१ के बीच में हुई थी। इसमें प्रचानत वीर व प्रदुभुत रस हैं।

जैन मुनि रामभद्र का प्रद्युद्धावीर रौद्रिणो नामक छंदकी नाटक सन् १२५६ में महाराजा यशपाल और जयपाल के बनाये मन्दिर के यनोत्सव में खेला गया था। इसमें भगवान् महावीर ने प्रतिबुद्ध रोहिण्ये चोर की रोचक आश्चर्यकारी कथा है।

धौलका के राणावीर धवल के मंत्री सुप्रसिद्ध वस्तुपाल ने सन् १२७७ में शत्रुञ्जय तीर्थ का म्थ निकाला। उस म्थ के परितोष के लिए यात्रामहोत्सव में कवि बालचन्द्र रचित कर्णवज्रायुध नाटक खेला गया। इसमें वज्रायुध चक्रवर्ती ने एक कवृत्त की रत्ना के लिए अपने प्राणों के बलिदान कर देने की तैयारी की कथा है।

मन्त्रीश्वर चक्षुपाल ने गुजरात पर चढाई करके आये हुए दक्षिण के राजा सिधण और उत्तर के सुलतान अलतमस को एक साथ हरा दिया। इसके ऐतिहासिक प्रसंग का बड़ा ही सुन्दर निरूपण जयसिंहसूरि के हमीर मदमर्दन नाटक में है। इसकी रचना संवत् १२७६ ने ८५ के बीच हुई है। यह नाटक भी प्रकाशित हो चुका है। खंमात में वस्तुपाल के पुत्र जयन्त सिंह की आज्ञा ने भीमेश्वर के यात्रा के प्रसंग पर खेला गया था।

इसके अतिरिक्त मेघ प्रश्वाचार्य का धर्माभ्युदय नाटक का उल्लेख मिलता है जिसमें दशार्णभद्र राजर्षि का चरित्र है।

मन्त्रीश्वर वस्तुतेजपाल बड़े ही उदार, धर्मनिष्ठ और विद्या प्रेमी थे। उनसे आश्रय में अनेक जैनेतर कवियों ने गीत काव्य आदि बनाये। जिनमें से वीरधवल के राज पुरोहित और वस्तुपाल के दृष्ट मित्र कीर्ति कौमुदी तथा सुरयोत्सव के कर्त्ता कवि सोमेश्वर ने उल्लाघराघव नामक नाटक बनाया, जो द्वारिका के जगत मन्दिर में प्रबोधनी एकादशी के दिन खेला गया था। उल्लाघराघव में राम कथा है।

सोमेश्वर के सुरभोत्पन्न की प्रशस्ति में कक्षा गया है कि सोमेश्वर ने भीमदेव की समा को यामल में एक नाटक बनाकर हर्षित किया। यह नाटक उल्लासराषव से भिन्न होना चाहिए पर श्रव श्रवाप्य है उल्लासराषव को सोमेश्वर ने पुत्रमल समा की प्रार्थना से बनाया था।

वस्तुपाल के श्राभित सुभट कवि ने दूतागद नाटक पाठ्य में कुमारपाल स्थापित शिवमूर्ति के दोलोलस्य के प्रसंगर त्रिभुवनराज की श्राद्धा से खेजा था। अत १२५८ से १२०० में यह लिखा गया। इस प्रकार हस्तमल्ल के पूर्व वर्ती श्वेताम्बर जैन नाटककारों और चैनाश्रित वा कवियों के नाटकों का उचित परिचय यहाँ दिया गया है। मेरे मित्र डा० भोगीलाल साडेवरा के गुजरात में संस्कृतनाटक नामक लेख से मुझे उड़ी सहायता मिली है, इसलिये मैं उनका श्रमारी हूँ।

दिग्गम्यों और श्वेताम्बरों के समस्त जैन नाटक साहित्य का अध्ययन कर विशेष प्रकाश जाला जाना आवश्यक है। इन नाटकों की शैली, भाषा के साथ ऐतिहासिक और सामाजिक दृष्टि से भी बड़ा महत्त्व है। हस्तमल्ल के बाद जैन नाटक साहित्य थोड़ा ही लिखा गया प्रतीत होता है, पर जो भी हो उसकी खोज का जाकर प्रकाश डाला जाना वांछनीय है।

यहाँ एक विशय विचारणीय प्रश्न होता है कि संस्कृत में जब नाटकों का इतना प्रचार रहा तो श्रवश्रव, राजस्थानी, हिन्दी, गुजराती में जैन नाटक क्यों नहीं मिलते? पर चैना कि पक्षे कहा गया है। १२ वीं से १५ वीं तक चैन रास, पागु चरचरी आदि लोक भाषा के काव्य ही उस समय अभिनीत होते थे। युगमवानाचाय गुर्वावली और प्रचीन रास आदि में इसका स्पष्ट उल्लेख है। डाडिया रास अथात् लसुटि रास और ताला रासक उस समय काफी प्रसिद्ध थे ताता रास अथात् तालियों के साथ गाया जाने वाला रास बहुत ही प्रसिद्ध था। १५ वीं शताब्दी से यह मन्त्रियों और गुह्रभागमनोत्सवों आदि की नाट्य परम्परा उद ही हो गई। इसके बाद बड़े २ चरित्र का प रुन रास बनने लगे और वे गाकर ही सुनाये जाते थे। इस समय क बीच नाटकों की क्या स्थिति रही? अचेपणीय है। १६ वीं शताब्दी से रणरत्न रत्न और तमाशे खूब प्रचलित हुए। पर जैन मुनिवो ने उसकी रचना में भाग नही लिया, चैनेत्तर सैकड़ों खयाल आदि रचनाएँ प्राप्त होती हैं व वे रून् प्रसिद्ध हैं।

स्वतंत्र नाटक निमाण्य के साथ श्वेताम्बर चैन विद्वानों ने जैनेतर नाटक ग्रन्थों की टीकाएँ भी बनाई हैं। उदाहरणार्थ अनघ राषव की टिप्पण्य वृत्ति प्राप्त है, मलधारी देव प्रभाचाय ने अनघ राषव रहस्यादश नामक टीका ७६० श्लोक की और उनके शिष्य नरचन्द्र आचाय ने २५० श्लोक परिमत् टिप्पण लिखा और तथा गन्धु के जयचन्द्र सूरि के शिष्य ने अनघ राषव वृत्ति बनाई। इसी प्रकार कर्पूर मजरी नामक प्राकृत नाटक पर धमचन्द्र रचित टीका प्राप्त है। अनघ राषव सुप्रसिद्ध मुरारि का प्रसिद्ध नाटक है और गुजरात में उसका श्राद्धा प्रचार रहा मालूम होना है। कर्पूर मजरी नाटिका राजशेखर की वृत्ति है। इनके अतिरिक्त जयचन्द्र सूरि की रम्भा मजरी नाटिका, पद्मसुन्दर का ज्ञानवद्रोदय नाटक, अमरचन्द्र की बनमाला नाटिका आदि का उल्लेख चैन ग्रन्थानामा में है।

“जोधपुर संग्रहालय की अज्ञात कुछ जैन धातु-मूर्तियाँ”

[श्रीयुक्त रत्नचन्द्र अग्रवाल, एम० ए०]



‘रेवाराउसोदा’ (पर्वतसर, जोधपुर डिविजन, राजस्थान) नामक स्थान में प्राप्त ६ धातुमूर्तियाँ जोधपुर संग्रहालय में प्रदर्शित हैं तथा संग्रहालय के रजिस्ट्रार की २३२४ संख्या के अन्तर्गत अङ्कित हैं। इन जैन मूर्तियों के पीछे मध्यकाल के लेख देवनागरी लिपि में उपलब्ध हैं। इन लेखों के अध्ययन द्वारा यह स्पष्ट हो सकता है कि कुछ क्षेत्र तो ऐसे हैं जो उसी तिथि की कुछ धातुमूर्तियों पर भी अङ्कित हैं परन्तु वे धातुमूर्तियाँ जोधपुर विभाग के एक दूरस्थ स्थान ‘वालोनगर’ के श्री शीतलनाथ जी के जैन मंदिर में विद्यमान होने का उल्लेख है। श्री पूर्णचन्द्र नाहर^१ द्वारा उनके लेख पढ़े भी गये हैं परन्तु जोधपुर संग्रहालय की मूर्तियों द्वारा प्रस्तुत विवरण वहाँ २ भिन्न भी है। यह खोज करने की बात है कि वालोनगर के उक्त मंदिर की उक्त मूर्तियाँ वहाँ आज भी विद्यमान हैं या नहीं। नहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि वे ही कालान्तर में किसी कारण वश पर्वतसर ले जायी गईं। अभी तो इस दिशा में कुछ अधिक कहना कठिन ही है। प्रस्तुत निबन्ध में तो जोधपुर संग्रहालय के अन्दर रखी हुई कुछ मूर्तियों का विवेचन करने का विचार है।^२

(१) संवत् १२३४ की मूर्ति:—

ऊचाई ७ इञ्च तथा चौड़ाई ५ इञ्च। पीछे लेख^३ उत्कीर्ण है अर्थात्—‘संवत् १२३४ जेष्ठ सुदि ११ सा० जसदेवभार्या जेऊ तत्पुत्रवीरदेव सात वाइड वीरदे श्रेयाथमकारि प्र० देवसूरिभिः।’

इस प्रतिमा में द्विबाहु तीर्थङ्कर वक्षस्प्रासन मुद्रा में तथा वद्धाङ्गलि स्थिति में विराजमान हैं। सिर के ऊपर नागफण वितानाञ्छादित है तथा सर्प के ७ फण हैं। देवता के दोनों ओर दो दो विद्याघर माला धारण किये, उनके नीचे स्थानकमुद्रा में एक एक चक्र धारण किये व्यक्ति तथा नीचे एक ओर एक पुरुष तथा दूसरी ओर एक स्त्री आसीन हैं। जिनासन के नीचे विपरीत दिशोन्मुख दो सिंह प्रदर्शित हैं। जिन भगवान् के वक्षस्पल पर श्री वत्सचिन्ह अंकित है। यहाँ जिन भगवान् का लाञ्छन उत्कीर्ण नहीं है।

१ जैन लेख संग्रह, भाग १, कलकत्ता, १९१८, पृ० १७४ तथा आगे।

२ श्री बालाराम कविकिङ्कर ने इन मूर्तियों का अध्ययन करने में पर्याप्त सहायता प्रदान की है। इसके लिये मैं उनका अतीवाभारी हूँ।

३ मुलना हेतु द्रष्टव्य नाहर, उपर्युक्त, भाग १, पृ० १७४, लेख ७२८।

(२) सवत् १५०१ की मूर्ति:—

ऊँचाई ६ इंच तथा चौड़ाई लगभग ३ १/२ इंच। आकार में यह प्रतिमा पहली से छोटी है। यहाँ सफ़रण अविद्यमान है। शेष भाग पूर्ववत् उत्कीर्ण है। इस मूर्ति में देवलाञ्छन अविद्यमान है परन्तु लेख* द्वारा यह स्पष्ट है कि यह मूर्ति 'श्रेयांसनाथ' की है यथा —

"सवत् १५०१ वर्षे माघवदि ६ बुधे उपकेशज्ञाती* आ। णागगोत्रे सा० काह पु० कील्लामाया देयी ही आत्मश्रेयसे श्रीश्रेयांस विंघ कारित श्री उन्देशग० कबुदाचार्य सताने प्रतिष्ठित श्रीकककसूरिभि।

इस लेख द्वारा उपकेशगच्छीय श्री ककुत्साचार्य कककसूरि का भी उल्लेख होता है। प्रथमलेख में भी देवदूरि जी का नाम तो उपलब्ध हुआ है परन्तु उनके गच्छ का नहीं।

(३) सवत् १५०४ की मूर्ति:—

ऊँचाई ७ १/२ इंच तथा चौड़ाई लगभग ५ १/२ इंच। यहाँ पर आसनदेव के ऊपर सातफणोत्तले सर्प का वितान विद्यमान है। आसन फ नीचे तथा पूव वर्णित विहो के मध्य में सपलाञ्छन भी विद्यमान है। 'श्री पार्वनाथ' की यह मूर्ति सुन्दर है। इसके अतिरिक्त जिन भगवान् के ऊपर दानो ओर तीथङ्कर ध्यानस्पृष्टा में प्रदर्शित हैं तथा त्रिपाथों का अमान है। इनके भी ऊपर गज प्रदर्शित हैं। मूर्ति के पृष्ठ भाग पर उत्कीर्ण लेख* इस प्रकार है —

'सवत् १५०४ वर्षे वैशाख स० ७ दिन श्री उकेशबशे सा० डीडापुत्र सा० नाथ श्रावणेषु तथा स० दूना स० (स्यायरा) सहितेन सुपुण्यार्थ श्री पार्वजिनविंघ कारित। श्री खरतरगच्छे श्री जिनभद्रमूरिभि। शुभमस्तु।

प्रस्तुत लेख द्वारा खरतरगच्छीय श्री जिनभद्रमूरि का भी उल्लेख हुआ है। यहाँ पर पार्वनाथ की उक्त मूर्ति पुण्याचन हेतु बनायी गयी। इससे पूव की, अर्थात् श्रेयास प्रतिमा, तो आत्मकल्याण हेतु बनायी गयी थी।

(४) सवत् १५०६ की मूर्ति —

ऊँचाई ७ इंच तथा चौड़ाई लगभग ५ १/२ इंच। यहाँ सपवितान अविद्यमान है। यहाँ नीचे त्रिनदेव लाञ्छन तो उत्कीर्ण है परन्तु अस्पष्ट है। लेख* द्वारा यह ज्ञात होता है कि मूर्ति 'श्री सुमतिनाथ जी' की है —

१ मूलना हतु द्र० ४५, वही, पृ० २४, लेख सख्या २३६ वही, भाग २, पृ २३७, लेख संख्या १२३३।

२ वर्तमान ओमियाँ जोधपुर में ३६ मील दूर। इस स्थान के श्राव्य नाम उकेश, उकेश*** इत्यादि भी उपलब्ध हैं।

३ मूलना हतु द्र० ४५, वही भाग १ पृ० १७५, लेख सख्या ७२।

* मूलना हेतु द्र० ४५, वही, भाग १, पृ० १७५, लेख सख्या ७३३

“(स्वन्तिचिन्ह) । सन् १५०६ वर्ष मागशिर सु० ७ ऊकेशवंगे वहरागोत्रे सा० सु० सा० हरिपालभार्या राजलदे पुत्र ना० गागाकेन यु० “”सा० “”श्री मुमतिना० वि० कारित श्री खरतरगच्छे श्री जिनराजमूरिपट्टे श्री जिनचन्द्रमूरिभि प्रतिष्ठितं शुभं भवतु ।

यहाँ पर खरतरगच्छीय आचार्य श्री जिन चन्द्रमूरि का उल्लेख है ।

(५) संवत् १५०६ की मूर्ति :—

ऊँचाई लगभग ७ १/२ इंच तथा चौड़ाई लगभग ५ १/२ इंच । यह मूर्ति पाश्चिमाय श्री उर्युक्त प्रतिमा की भाँति की है परन्तु यहाँ जिन भगवान् के शिर के ऊपर सर्पकण्ठितान अविद्यमान है । नीचे लाञ्छन भी उत्कीर्ण है परन्तु स्पष्ट नहीं जान पड़ता । लेख^१ द्वारा बोध होता है कि यह मूर्ति श्री वासुपूज्य^२ की है यथा —

“संवत् १५०६ वर्षे कार्तिक सुदि १३ गुरो ऊकेशवरो वरवहारीगोत्रे सा० जाजण पुत्र हरपालभार्या राजलदे पुत्र ना० धरमा भा० वनाईपुत्र ना० सहजाकेन स्वपितृगुण्याय श्री वासुपूज्य वि० कारितं । श्री खरतरगच्छे श्री जिनराजमूरिपट्टे श्री भद्रमूरि युग प्रधानगुरुभिः प्रतिष्ठित ।”

यहाँ पर युगप्रवानाचार्य खरतरगच्छीय श्री जिनभद्रमूरि का उल्लेख किया है । इस मूर्ति की प्रतिष्ठा स्वपितृपुण्यार्थ हुई थी ।

(६) संवत् १५३७ की मूर्ति :—

ऊँचाई ५ १/२ इंच तथा चौड़ाई ४ इंच । यहाँ पर भी सर्पकण्ठ अथवा लाञ्छन अविद्यमान हैं परन्तु लेख^३ द्वारा यह स्पष्ट है कि यह प्रतिमा ‘श्री धर्मनाथ जी है अर्थात् —

“संवत् १५३७ वर्षे वैशाख ९ सुदि ७ दिने श्री उकेशवशो विद्गुरागोत्रे अमवमी^४ संनाने ना० ऊनाभार्या लखमादे पुत्र सा० डहृथ सुभ्रावकेण भा० पूराई पुत्र मेरा जीवादेवादि युतेन श्री धर्मनाथ वि० का० श्री खरतरगच्छे श्री जिनभद्रमूरि पट्टे श्री जिन समुद्रमूरिभिः ।

यहाँ पर खरतरगच्छीय श्री जिनभद्रमूरि जी का उल्लेख है ।

उक्त मूर्तियों के लेखों द्वारा जिन-प्रतिमाओं को पहचानने में पता चहायता मिलती है । इसी प्रकार की कुछ मूर्तियों साचोर (सत्यपुर, जोधपुर) से प्राप्त हुई थी तथा जोधपुर संग्रहालय में नुगदित हैं । इन में से कुछ पर लेख उत्कीर्ण नहीं है । अध्ययनोपरान्त शीघ्र ही उनको भी प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया जा रहा है ।

१ तुलना हेतु द्रष्टव्य, वही, पृ० १७३ लेख संख्या ७३२ ।

२ तुलना हेतु द्रष्टव्य, वही पृ० १७६ लेख संख्या ७३५ ।

३ यहाँ ‘प’ द्वारा ‘ख’ का भाव व्यक्त किया है ।

४ अर्थात् ‘अमव सिद्ध’ ।

देवगढ़ और उसका कला वैभव

[प्रो० ज्योति प्रसाद जैन एम ए एल एल बी, लखनऊ]

देवगढ़ विरकान पथ व जैनो का एक प्रसिद्ध सांस्कृतिक केन्द्र रहा है। वर्तमान में इस नाम का एक छोटा गाँव गोंय उत्तर प्रदेश के भागी जिले में बेमवती (बेतवा) नदी के तट पर तथा ललितपुर की पश्चिम में प्रतिम छोर पर घने जंगल के बीच बसा हुआ है। यह ग्राम देहली में बंगाल जाने वाली में रेलवे के ललितपुर स्टेशन में १६ मील तथा उसीके लाखलीन स्टेशन से लगभग ८ मील दक्षिण पश्चिमोत्तर स्थित है। इस समय उसकी जनसंख्या लगभग दो लाख है जो जिनमें जैनियों और सरथा की ही संख्या अधिक है। गोंय के निकट तक पहुँच जाने पर भी सामान्य स्थलों को काँच विशेष आकर्षक वस्तु दृष्टिगोचर नहीं होती किन्तु उसके चहुँ ओर जंगल में घन वन विखरी हुई अनगिनत प्राचीन खटिन मूर्तियों एवं मन्तों के प्रस्तर मय कल्पनाशील यात्रियों को इस प्रदेश के अतीत गौरव की मूक गायिका सुना ही देने हैं।

देवगढ़ का प्राचीन चतुर्दोष दुर्ग गाँव के निकट ही एक गोलाकार पहाड़ पर बना हुआ है जो उत्तर पश्चिम लगभग एक मील लम्बी और पूव पश्चिम लगभग तीन मील चौड़ी है। पहाड़ की चढ़ाई सुगम और सीधी है। उसपर चढ़ने के लिये पश्चिम की ओर एक मार्ग बना हुआ है। मैदान में बने हुए एक प्राचीन सरोवर को पार करने के उपरान्त पहाड़ पर चढ़ने के लिये प्रस्तरनिभिन सीढ़ियोंद्वारा एक प्राचीन विस्तृत सड़क मिलती है जिसके दोनों ओर करघर, छैर और शाल के घने वृक्ष अपनी सुदीर्घ शाखाओं द्वारा सतत शीतल छाया प्रिय रहते हैं। पर्वत के उपर पहुँचने पर एक भग्न तारण द्वार मिलता है जो पर्वत की परिधि को आवृत करने वाले टुंगीघाट का प्रमुख द्वार प्रतीत होता है। इसे कुछ द्वार भी कहते हैं। इसकी कारीगरी दरारा है। इस द्वार को पार करने पर एक के बाद एक दो तीर्थ कोट और मिलते हैं। इन्हीं मातंगी जनों कंटों के भीतर अधिकांश जैन मन्दिर अवस्थित हैं। इन कलापूष प्राचीन देवालयों के कारण ही देवगढ़ की इतनी प्रसिद्धि है पत्र के दक्षिणी पश्चिमी छोर पर वैष्णव सम्प्रदाय का बराह मन्दिर है जो नष्टपाय है। प्राय ऐसी ही पर्वत दर्रा में वह प्राचीन विष्णु मन्दिर है जिसे दराराजगर मन्दिर भी कहते हैं जिसने पुराणग्रन्थों एवं कल्पमन्त्रों का ध्यान विशेषरूप से आकर्षित किया है। किले के चार ओर वेतवा नदी है उसका पहाड़ की ऊँची दीवार को काट कर बनाये गये तीन घाट या पानी हैं जिनमें से नाहर घाट और राजघाट अधिक प्रसिद्ध हैं। इन घाटों के आस पास कई कृषि मन्दिर भी हैं।

देवगढ़ जिस स्थान में स्थित है वह मूलाग प्राकृतिक शोभा की दृष्टि से अत्यन्त मनोरम एवं अप्रतिम है। यहाँ वेतवती एक सखी घाटी में से होकर विष्व पर्वत माला में प्रवेश करती है

और तदुपरान्त एक चौड़ी धारा के रूप में देवगढ़ दुर्ग को तीन ओर ने आवृत्त करती हुई प्रसार पाती है। विन्ध्य पर्वत श्रेणी को फाट कर वेतवा ने यहाँ कुछ एक अत्यन्त चित्ताकर्षक दृश्य निर्माण किये हैं। पहाड़ की विकट घाटी में बहती हुई मरिता महसा पश्चिम की ओर घूम जाती है और इस प्रकार दृश्य को और अधिक सुन्दर बना देती है। दक्षिण दिशा में देवगढ़दुर्ग की सीढ़िया नदी के जल को स्पर्श करती हैं। इसी ओर देवमूर्तियों एवं अन्य कलाकृतियों ने युक्त कतिपय गुहा मंदिरों को अपने ग्रंथों में लिये हुए नाहरघाटी एवं राजगाटी अवस्थित हैं। इस स्थान पर गिरते हुए जल की कलकल ध्वनि ऊपर लटकती हुई चट्टानों पर दूरदूर तक सुनाई देती है। इन चट्टानों के किनारे किनारे वेतवा के दाहिने तट पर मैदान पर्याप्त ढालू हो गया है, और इस ढाल के निकट ही मैदान के पश्चिमी छिमे पर दक्षिण की ओर ने पर्यन्तमानाश्रम तथा पश्चिम एवं पूर्व दिशा में छोटे छोटे पहाड़ी-टीनों से घिरा हुआ उक्त ढाल का आकर्षणकेन्द्र दशावतार मंदिर अत्यन्त रमणीक दीख पड़ता है। वेतवाउस, फर्ग्युसन, बरजेश आदि कलामर्मज्ञों ने यह अनुभव किया है कि अपने तीर्थस्थान एवं सांस्कृतिक केन्द्र स्थापित करने के लिये प्राकृतिक सौन्दर्य से पूर्ण स्थलों के चुनने में जैनाजैन सदैव बेजोद रहे हैं। देवगढ़ इस तथ्य को भली प्रकार चरितार्थ करता है। प्रकृति की सुपमापूर्ण गोद में सुपम देवगढ़ का वैभव आज भी अपनी प्राकृतिक एवं कलात्मक द्विविध सौन्दर्य राशि से दर्शकों को सौन्दर्यानुभूति के लिये अनुपम प्रेरक बना हुआ है। विविध जातीय वन्य पशुओं एवं पक्षियों के ऊनरव से गुंजायमान हरीभरी घनी वनस्थली के मध्य अपने शिरपर दुर्ग रूरी मुकुट धारण किये हुए सुन्दर हरीतिमा से वेष्टित देवगढ़ पर्वत अत्यन्त सुग्म्य एवं मनोरम प्रतीत होता है।

इस स्थान के भग्नावशेषों को देखकर इसमें तनिक भी सन्देह नहीं रहता कि किसी समय चिरकाल पर्यन्त वह एक सुन्दर सुदृढ दुर्ग से युक्त भरापूरा विशाल रमणीक नगर एक घर्म और संस्कृति का महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा होगा। इधर कई शताब्दियों से अवश्य ही वह निर्जन वनस्थली के मध्य एक उपेक्षित—प्रायः विस्मृत सा ही जीवन व्यतीत करता आ रहा है। कैप्टन चार्ल्स स्ट्रैश के शब्दों में 'देवगढ़ के निकट आकर वन उसके चहुँ ओर अत्यन्त घना हो गया है और उसके नीचे बहनेवाली वेतवा भी दोनों किनारों पर स्थित पहाड़ियों के कारण दूर से अदृश्य ही बनी रहती है। देवालियों से पूरित ये पहाड़ियों आकर्षण का केन्द्र थीं और आज भी उनके भग्नावशेष प्राचीन भारतीय रूप शिल्प का कोषागार बने हुए हैं। किन्तु अब ये खडहर चहुँओर उगे घने वृक्षों की चोटियों को भेदकर दूर से दीख भी नहीं पड़ते।' तथापि इससे भी कुछ लाभ ही हुआ। जहाँ लोक की उपेक्षा ने उन्हें भाङ्गझखाड और वन्य पशुओं का आवास बना दिया तथा काल के प्रकोप से वे शनैः शनैः भूमिमात् एवं विनष्ट होते रहे, वहाँ आततायी मूर्ति मंदिर विध्वंसकों की कुदृष्टि से भी उनकी रक्षा हुई। फलस्वरूप

देवगढ़ के अवशेष आज भी प्राचीन भारतीय कला और उसके विकास के अध्ययन के लिये प्रचुर सामग्री प्रदान करते हैं। निम्न स्वयं देवगढ़ का इतिहास प्रायः अवकाराच्छ्रित है।

यह स्थान प्राप्त अवशेषों, शिलालेखों तथा अन्य ऐतिहासिक साधनों से ऐसा प्रतीत होता है कि अत्यन्त प्राचीन काल में इस प्रदेश पर अधसभ्य शहर जाति का निवास था। महाभारत काल में यह भूभाग दशार्थ देश का अंग था और पाण्डवों की राज्यसीमा के भीतर रहता था। शहरों या सहरियों का निवास बहुत पीछे तक रहा, उनसे गौड़ लोगों ने इसे छीन लिया। महावीरुत्तर मगध के शैशुनाथ १ दमोय साम्राज्य का भी यह प्रदेश अंग रहा। सभ्यतया इसी युग में किसी समय गौड़ लोगों ने यहाँ सब प्रथम दुर्ग और नगर का निर्माण किया। गौड़ों से इस प्रदेश के गुप्तनरेशों ने जीता और इसी काल से देवगढ़ का वास्तविक अश्रुदय प्रारम्भ हुआ। उस समय यह एक प्रसिद्ध राजमाग पर स्थित था और गुप्त साम्राज्य का एक प्रमुख जनपद था और सभ्यतया तत्प्रदेशीय भुक्ति का केन्द्रिय स्थान था। गुप्तकाल के कई जैन वैष्णव देवालय, मूर्तियों तथा भवनों के अवशेष उस काल में इसका एक समृद्ध नगर होना सूचित करते हैं। गुप्तों के उतरात हराने और चि मालवे के यशोधमन और तदुपरात कन्नौज के वधन वश का इस प्रदेश पर अधिकार रहा। ८ वीं से १० वीं शताब्दी पर्यन्त प्रथम भिन्नमाल और फिर कायकूट के गुजर प्रतिहारों का देवगढ़ पर प्रभुत्व रहा। इन गुजर सम्राटों के काल में यह नगर एक महत्त्वपूर्ण प्रांतीय केन्द्र और एक महासाम्राज्य की राजधानी था। इसी काल में देवगढ़ अपने वैभव और कला की उत्तरी के चरम शिखर पर पहुँचा। ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्तों और गुजर प्रतिहारों के मध्य की शताब्दियों में इस स्थान पर किसी जैन या यज्ञ या उपयज्ञ का शासन रहा, उन्होंने ही इस सुप्रसिद्ध पर यह सुदूर सुदूर त्रिकुट दुर्ग निर्माण कराया और उसे अनेक जैन देवालयों एवं कलाकृतियों से अलङ्कृत किया। परन्तु के ऊपर और दुर्गकोट के भीतर अन्य किसी घम के या उसके देवालयों या मूर्तियों के अवशेष नहीं मिलते। इसके विपरीत ६ वीं शती ई० के मध्य के एक शिलालेख से सिद्ध होता है कि उसके पूर्व भी यह दुर्ग और उसके भीतर कई प्रमुख जिनमन्दि विद्यमान थे। एक विद्वान् का अनुमान है कि ८६ वीं शती ई० में यहाँ किसी देववश का शासन रहा है। समभव है देवगढ़ के तत्कालीन शासक उपरोक्त जैन राज्यश का ही यह नाम रहा हो। किन्तु इतिहास में इस वश का कोई पता नहीं चलता। गुजर प्रतिहार सम्राट् स्वयं जैनधर्म के प्रति अत्यन्त सहिष्णु और उसके प्रभयदाता थे। उनके उपरांत १ वीं से १३ वीं शती ई० पर्यन्त जेजाकमुक्ति के चन्देल नरेशों का इस स्थान पर अधिकार रहा। उनके राज्य की यह एक उपराजधानी ही थी। चन्देल नरेश भी जैनधर्म के अत्यधिक प्रभयदाता थे। उनके शासन में देवगढ़ के क धार्मिक एवं कला वैभव की अभिवृद्धि ही हुई। यहाँ के अधिकार महत्त्वपूर्ण अवशेष

प्रतिहार चन्देल काल के ही हैं। १३ वीं शती ई० में मुसलमानों का इस प्रदेश पर अधिकार हो गया, किन्तु मुस्लिम काल में यह स्थान प्रमुख राजपथ से दूर पड़ गया और धीरे-धीरे घने वन से वेष्टित होने लगा, फलस्वरूप उनकी कुदृष्टि देवगढ़ के देवालयों पर न पड़ पाई और विधर्मियों द्वारा विध्वंस किये जाने से उनकी रक्षा हो गई। १७ वीं शताब्दी से मुगल सम्राटों के अधीनस्थ बुन्देलो राजपूतों का इस सम्पूर्ण प्रदेश पर अधिकार हुआ और इसी कारण विन्ध्यभूमि का यह सम्पूर्ण भाग बुन्देलखण्ड कहलाने लगा। इस काल में देवगढ़ का राजनीतिक महत्त्व कम होता गया और धार्मिक महत्त्व ही श्रवशिष्ट रहता गया। फिर भी १६ वीं शताब्दी के प्रारंभ तक देवगढ़ का दुर्ग एक सुदृढ़ एवं सुरक्षित दुर्ग था। सन् १८११ ई० में जब महाराजा सिन्धिया की आर से उसके सेनापति कर्नल वैयरिस्टी फिलोज ने बुन्देलों में देवगढ़ को छीनना चाहा तो वह लगातार तीन दिन तक युद्ध करने के उपरान्त ही उस पर अधिकार कर पाया। देवगढ़ पर सिन्धिया का अधिकार कुछ ही काल रहा। सिन्धिया ने चन्देरी के बदले में उसे अंग्रेजी सरकार को दे दिया और तब ने स्वातन्त्र्य प्राप्ति पर्यन्त वह अंग्रेजी शासन के अन्तर्गत सयुक्त प्रान्त के भोजी जिले की ललितपुर तहसील का एक भाग रहता आया है। वर्तमान में विन्ध्यभूमिका यह भूभाग उत्तर प्रदेश के दक्षिणी भाग के उसी जिले की और तहसील का एक अंग है।

देवगढ़ का प्राचीन नाम लुअञ्छगिरि था। कम से कम ६ वीं शताब्दी ई० के मध्य तक यह स्थान इसी नाम से प्रसिद्ध था। ११ वीं शताब्दी के अन्त में चन्देलनरेश कीर्तिवर्मन के मन्त्री वत्सराज ने इस स्थान पर एक नवीन दुर्ग निर्माण कराके, अपना प्राचीन दुर्ग का ही जोशोद्धार कराकर इसका नाम अपने स्वामी के नाम पर कीर्तिगिरि रक्खा। ये दोनों ही नाम विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गये और शताब्दियों से यह स्थान देवगढ़ नाम से ही प्रसिद्ध रहता आया है। श्री पूर्णचन्द्र मुखर्जी ने ललितपुर तहसील को अपनी पुरातत्त्विक खोज के विवरण में सन् ८५० ई० से ६६६ ई० पर्यन्त इस नगर पर किसी देववंश का अधिकार होने की कल्पना की है जिसके कारण इस स्थान का नाम देवगढ़ पड़ा। इतिहास में ऐसे किसी वंश का उल्लेख नहीं मिलता और इस काल प्रतिहार नरेशों का प्रभुत्व इस नगर पर था यह बात अस्पष्ट है। संभव है उनके जो महासामन्त इस प्रदेश के प्रान्तीय शासक थे उनका अपना वंश देववंश कहलाता हो। किन्तु उन्हीं सम्राटों एवं महासामन्तों के काल के सन् ८६२ ई० के शिलालेख में इस दुर्ग का नाम लुअञ्छगिरि दिया हुआ है। हो सकता है कि सुतो के उपरान्त और प्रतिहारों के पूर्व जिस जैन राज्यवंश का शासन और अधिकार इस नगर पर रहा और जिसने इस पर्वत पर अनेक भव्य जिनालयों से युक्त त्रिकुट दुर्ग का निर्माण कराया उसका नाम देववंश रहा हो। सन् ८६२ ई० का उक्त शिलालेख जिस जैन मानस्तम्भ पर अंकित

है उसके प्रति ठापर आचार्य कमलदेव के शिष्य आचार्य श्रीदेव थे। समझ है वे देवसय के आचार्य ही और इस स्थान पर अपनी भट्टारकीय गद्दी स्थापित की हो तथा यहाँ के प्रसिद्ध धर्माचार्य रहे हों, उनके अपने या उनके सय के नाम से यह दुग देवगढ़ कहलाने लगा हो इस प्रदेश में प्रचलित एक जन श्रुति भी है—प्राचीन काल में किसी समय देवपत और जेमपत नामके दो जैनधर्मावलम्बी भ्राता इस नगर में रहते थे। देवकृपा से उन्हें पारसपथरी प्राप्त हो गई, जिसके प्रभाव से वे त्रिपुल धन ऐश्वर्य के स्वामी बन गये। उस धनका सदुपयोग इन भ्राताद्वय ने इस स्थान पर अनेक मण्डपों का निर्माण कराने तथा दुग एक नगर का सौन्दर्य तथा वैभव बढ़ाने में किया। तत्कालीन राजा ने उन पर आक्रमण करके वह पथरी उनसे परस लीनना चाही, किन्तु देवपत ने उक्त पथरी को इसके पूव ही जगवा के गभीर जल में विस्फुलित कर दिया। कहा जाता है कि इस स्थान के महान निमाता उक्त देवपत के कारण ही यह स्थान देवगढ़ कहलाया। यह भी समझ है कि अनगिनत देव मूर्तियों एवं देवायतनों के कारण ही उनका देवगढ़ नाम प्रसिद्ध हुआ। कम से कम जैनो की दृष्टि में तो अपने बहुसंख्यक प्राचीन देवमंदिरों एवं देव प्रतिमाओं के कारण वह एक सच्चा देवगढ़ बना चला आया है और किसी तीर्थंकर की कल्याणक भूमि या कोई अतिशयक्षेत्र अथवा किसी शलाका पुरुष का जन्म स्थान न होते हुए भी एक पवित्र धर्मतीर्थ के रूप में दशनीय एवं वदनीय रहता आया है।

देवगढ़ के पुराने-नयागढ़ों में से अधिकांश जैन मंदिरों मूर्तियों और भवनों के ही मग्न अभग्न अवशेष है, और उनमें से भी अधिकांश उक्त केन्द्रीय स्थान दुग कोट के भीतर ही हैं। इन जैन मंदिरों में कुछ बहुत छोटे छोटे धर्मायतनों को छोड़कर शेष लगभग २०-२१ मण्डप जिन मंदिरों के साथ मिलते हैं और इनमें भी लगभग १६-१७ बहुत बड़े अन्धी हालत में हैं। इन मंदिरों में स अधिकांश ८ वीं से १२ वीं शताब्दी के मध्यवा प्रतीत होते हैं। कुछ एक गुप्तकाल जितने प्राचीन भी प्रतीत होते हैं जबकि कई मंदिर १५ वीं से १८ वीं शताब्दी के मध्य भी निर्मित हुए हैं। दूरे कोट के भीतर केवल दो मंदिर हैं जिनमें से एक तो सोलह स्तंभों पर प्राधारित सुन्दर मठपथे युक्त विशाल एवं मण्डप विनालय का मठ है। मठपथे के अवशिष्टांश में पूर्वाभिमुख पद्मासन एवं शङ्खासन जिन मूर्तियों चमरवाहन यक्षयक्षी पुष्पकृति आदि विविध लक्षणों से युक्त दो पत्थियों में उत्कीर्ण हैं। मठपथे की बाहिरी दीवार में भी कई मूर्तियों उत्कीर्ण हैं, उनके सामने ही एक छोटा सा मानस्तम्भ बना हुआ है। कुछ छोटी छोटी मूर्तियों मंदिर के सामने भी विराजमान हैं। दूसरा मंदिर अधिक नीच सीधे दशा में है, इसमें भी कलापूष पद्मासन एवं शङ्खासन मूर्तियों विद्यमान हैं इस मंदिर के बाहिर दक्षिण की ओर खडित मूर्तियों का एक ढेर लगा हुआ है। इनके अतिरिक्त शेष समस्त मंदिर तीसरे कोट के भीतर हैं।

तीसरे कोट के मन्दिरों में सर्वाधिक विशाल एवं महत्त्वपूर्ण मन्दिर १६ वें तीर्थङ्कर भ० शान्तिनाथ का है। मन्दिर के गर्भगृह में भ० शान्तिनाथ की १२ फुट ३ इंच की खड्गासन प्रतिमा अत्यन्त चित्ताकर्षक है। शान्तिनाथ ही देवगढ़ के अधिष्ठाता देव प्रतीत होते हैं, यह प्रतिमा भी पर्याप्त प्राचीन है। गर्भगृह के आगे लगभग ४२ फुट लम्बा चौड़ा वर्गाकार मण्डप है जो छु छु स्तम्भों की छु पक्तियों पर प्राधारित है मण्डप के मध्य एक विशाल वेदिका पर कई मूर्तियाँ विरजमान हैं जिनमें से एक बाहुवलि की है। यह मूर्ति गोभमटेश्वर बाहुवलि की दक्षिणात्क मूर्तियों से कई अंशों में विलक्षण है। बामी, कुम्भटसर्प, जता आदि के अतिरिक्त इस मूर्ति पर विच्छू, छिन्नकली आदि अन्य जन्तु भी नैंगते हुए अंकित किये गये हैं और साथ ही इन उपसर्गकारी पदायों एवं जन्तुओं का निवारण करते हुए देव युगल का दृश्य भी अंकित है। बाहुवलि की ऐसी एक मूर्ति चन्देरी में भी विद्यमान बताई जाती है। मन्दिर के सामने १६-१७ फुट की दूरी पर चार सुन्दर स्तम्भों पर प्राधारित एक अन्य मध्य मण्डप है। इन्हीं स्तम्भों में से एक पर सन् ८६२ ई० का गुर्जर प्रतिहार सम्राट् नौनदेव के समय का प्रसिद्ध लेख उत्कीर्ण है। शान्तिनाथ के इस मन्दिर में तीन अन्य दस दस फुट ऊँची खड्गासन प्रतिमाएँ भी मूल प्रतिमा जैसी विराजमान हैं, छोटी बड़ी अन्य अनेक प्रतिमाएँ भी हैं। इस मन्दिर के आस पास अन्य अनेक छोटे बड़े मन्दिर विद्यमान हैं। इनमें से एक लाखों मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध है। एक अन्य मन्दिर अपने कलापूर्ण प्रवेश द्वार के लिये दर्शनीय है। उसके नीचे की ओर करों में जलपात्र और वरपर नागफण धारण किये हुए समभवत गंगा जमुना की मनोमा युगल मूर्तियाँ हैं। १००८ जिन मूर्तियों से युक्त पाषाण का एक सुन्दर सहस्रकूट चैत्यालय यथावत अवस्थित है। एक अन्य मन्दिर सहस्रकूट मानस छत्र की रचना प्रकट कर रहा है। एक मन्दिर की दीवार पर भगवान की माता की पाँचफुट उच्च ग मनोहर मूर्ति उत्कीर्ण है। एक स्थान पर पार्श्वनाथ की मूर्ति के शिर पर नागफण न बनाकर उसके बगल में दोस्तों और विशालकाय सर्प बना दिये हैं। तथा ऋषभदेव की मूर्ति के शिर पर जटाएँ दिखाई हैं। एक मन्दिर में चरण चिन्ह ही हैं। एक दूसरे में तीर्थङ्कर मूर्तियों के अतिरिक्त मुनि अर्जिका आदि की मूर्तियाँ भी उत्कीर्ण हैं। एक मन्दिर बाहिरी वरामदे में विराजमान चतुर्भुजा सरस्वती की, षोडशभुजा गरुडवाहना चक्रेश्वरी की, अष्टभुजा वृषभवाहना ज्वालामालिनी की एवं कमलासना पद्मावती की मूर्तियाँ अत्यन्त कलापूर्ण एवं चित्ताकर्षक हैं। इनमें से एक पर वि० स० १२२६ उत्कीर्ण है, संभव है ये चारों मूर्तियाँ एक ही कलाकार की कृति हों। शान्तिनाथ के उपरोक्त बड़े मन्दिर के मण्डप की एक दीवार पर भी २४ शान्त देवियों में से २० की सुन्दर मूर्तियाँ उनके नाम सहित उत्कीर्ण हैं जो रा० व० दयाराम साहनी के मतानुसार उत्तरभारत में प्राप्त यद्दि मूर्तियों से सर्वथा विलक्षण एवं अद्वितीय हैं। कहीं कहीं गृहस्थ श्रवक आदिकाओं की मूर्तियाँ भी पाई जाती हैं।

देवगढ़ ही एक स्थान है जहाँ 'अरिदत्त' 'विद्र' 'आचाय' 'उपाध्याय' और 'साधु' शीलों ही परमेष्ठियों की मूर्तियाँ अनेक उल्लेख होती हैं। तीर्थङ्करों में से ता जीव शीं ही तीर्थङ्करों की मूर्तियाँ यहाँ मिलती हैं। कई स्थानों में विशेषकर अजिनाथ और उद्वप्रभु के आठ आठ या चार चार अथ चिनमूर्तियों से युक्त पद भी दर्शनीय हैं। कहीं कहीं एक वृक्ष के नीचे गोद में एक एक बच्चा लिये हुए दम्पति युगल भी मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। श्री देवाराम साहनी के मतानुसार ये दृश्य भोगभूमि के हैं जिनमें कलावृत्त के नाचे तिष्ठते हुए युगलियाँ सन्तान युक्त प्रसन्न युगल प्रदर्शित किये गये हैं। देवगढ़ के समस्त जैन प्रस्तराङ्गनों का विविधत प्रथयन करने से उनमें अनेक अनुभूतियाँ एवं पौराणिक आख्यानों का चित्रण मिलने की संभावना है।

देवगढ़ के दुर्ग के भीतर जैनधर्म के अतिरिक्त अन्य किसी सम्प्रदाय की मूर्तियाँ प्रायः नहीं पाई जाती। सभी मूर्तियाँ प्रस्तरनिर्मित हैं या प्रस्तराङ्गनों के रूप में हैं। अधिकांश खड्गासन हैं जिनकी ऊँचाई दो टाई फुट से लेकर बारह फुट तक है। मूर्तियों के केशों की उनावट भिन्न भिन्न प्रकार की है, कहीं कहीं उन पर चौदकला की छ्वा भी प्रनीत होता है, विशेषकर अभय या वरपुत्रा युक्त आचार्य मूर्तियों में। सभी मूर्तियों की उनावट सुन्दर सुदौल एवं करापूष है। इन प्रतिमाओं का स्थायित्व तकनीक जैनकला की उत्कृष्टता का परिचायक है। अपनी प्रशान्त वीतराग कायास्वय मुद्रा से यहाँ की अप्रतिम जिनमूर्तियाँ दृष्टकों के मन को हर लेती हैं और वे तद्रूप वीतरागता के भाव उदित करने में समर्थ हैं।

प्रशान्तस निमग्न दृष्टियुग्म प्रसन्नवदन,

कमलमक कामिनासगशून्य ।

करयुगमपि धत्ते शस्त्रसम्प धवधं

सदसि जगत्तिदयो वीतरागस्त्वमेव ॥

महाकवि चनपालोक जिनमूर्तियों का यह आदर्श देवगढ़ की प्रतिमाओं में पग पग पर मली प्रकार चरिताय होता है। अरद्वैतो एवं मुनियों की दिग्गजर प्रतिमाओं के अतिरिक्त सरागी देवी देवताओं एवं पृथ्वी स्त्री पुरुषों की भावभंगी परिवान, अलङ्कार आदि के चित्रण में कलाकार ने कमाल किया है। अनेक जैन सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक प्रतीक यत्र तत्र उद्गीर्ण मिलते हैं और लोक जीवन के दृश्य भी उल्लेख हैं। इस प्रकार देवगढ़ का स्थायित्व न केवल धार्मिक एवं कलात्मक दृष्टि से ही वरन् सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है।

देवगढ़ के जिन मंदिरों का निर्माण उत्तर भारत में विकसित नागर अथवा आय शैली में हुआ है। इसे पंचरत्न शैली भी कहते हैं और यह दक्षिण भारत में प्रचलित द्राविड शैली में भिन्न है। देवगढ़ के शिखरबद्ध मंदिर उत्त नागर शैली के श्रेष्ठ उदाहरण हैं। शक्तिनाथ आदि मंदिरों के शिखर अल्पत मुदर हैं। सभी मंदिर प्रस्तरनिर्मित हैं और उनका कटाव और

कारीगरी दर्शनीय है। मंदिरों के गर्भगृह प्रायः अन्नकार मय हैं और उनके द्वार बहुत छोटे छोटे हैं। किन्तु गर्भ गृहों के आगे के सभा मंडप खुले और विशाल हैं। जिन स्तंभों पर वे आवाहन हैं उनकी तथा छतों एवं दीवारों की कारीगरी और उन पर उत्कीर्ण मूर्तें दृश्य एवं अजडरूप चित्ताकर्षक हैं। मंदिरों के तोरखद्वार भी सुन्दर एवं कलापूर्ण हैं। चरगुचिन्हों ने युक्त शिखर-वद खुली छतरियों भी हैं और निनमूर्त्तियों एवं मंगल प्रतीकों में अन्नरूप कई सुन्दर उच्च मानस्तम्भ भी हैं। स्वयं दुर्गाशेट, उमका तोरखद्वार, पाट और सीढियाँ, विशाल पाषाण में काट कर बनाई बावड़ी आदि भी प्राचीन स्थापत्य के अच्छे नमूने हैं। वस्तुतः उपरोक्त नागर शैली के स्थापत्य का विकास गुप्त काल में और वह भी मुख्यतः देवगढ़ के जिनापत्तनों द्वारा ही प्रारंभ हुआ प्रतीत होता है यही कारण है कि देवगढ़ और उसके उपरान्त खजुराहो, चन्देरी, अजयगढ़, महोबा, अहार, पौरा आदि के प्राचीन जैन मंदिर प्राग्मुस्लिम कालीन सम्पूर्ण भारतीय कला का सफल प्रतिनिधित्व करते हैं। गुप्त, गुर्जर, प्रतिहार और चन्देन वंशों के परम महिष्णु नरेशों के आश्रय में उत्तरभारत की धर्माश्रित कला विनोद कर जैनों के प्रयत्न से खूब फली पूनी।

भारतीय इतिहास का वह स्वर्णयुग धार्मिक सद्भाव से परिपूर्ण था। साम्प्रदायिक विद्वेष एवं धर्मान्धता में शून्य उस युग में जैनों, वेष्णवों एवं शैवों ने निर्विरोध साथ ही साथ भारतीय कला और सस्कृति को समृद्ध एवं विकसित किया था। यही कारण है कि अनेक मनोहर जैन-मंदिरों, तीर्थङ्कर प्रतिमाओं, अन्य परमेष्ठियों तथा देवी देवताओं, मूर्त्तियों, जैन प्रतीकों एवं पौराणिक दृश्यों के प्रस्तराङ्कनों और अन्य जैन कलाकृतियों के साथ ही साथ अन्न सम्प्रदायों के देवी-देवताओं की मूर्त्तियों एवं धर्मावतन भी पाये जाते हैं। सपनामृका देवियों की मूर्त्तियों तो अनेक यत्र तत्र मिलती हैं, इन देवियों की मान्यता जैन और वेष्णव दोनों ही सम्प्रदायों में समान रूप से पाई जाती है। इनके अतिरिक्त नाहर एवं राजवाट की कतिपय गुफाओं में जिनमें से एक सिद्ध गुफा कहलाती है; स्पष्टतः हिन्दू देवी देवताओं की मूर्त्तियों पाई जाती हैं। एक में शिवलिंग स्थापित है। एक में सूर्य भगवान और गणेश की मूर्त्तियों हैं। एक स्थान में पंच गडव उरुकीर्ण हैं दुर्गा के नीचे एक और वराहवतार का भग्न प्राचीन मंदिर तथा उक्त देव की खडित मूर्त्ति विद्यमान है। हिन्दू कला-कृतियों में सर्वाधिक आकर्षक एवं महत्त्वपूर्ण वह सुप्रसिद्ध दशावतार मंदिर है जो गुप्तकाल में निर्मित हुआ अनुमान किया जाता है। श्री माधवस्वरूप वत्स के मतानुसार यह मंदिर उत्तर भारत में प्रचलित पञ्चरत्न शैली का सर्वप्राचीन उदाहरण है। इस समय वह अत्यन्त जीर्ण शीर्षा दशा में है फिर भी उसके अवशेष उसकी अनुपम स्थापत्य एवं मूर्त्तकला का परिचय देने के लिये पर्याप्त है। स्मिथ-आदि कलामर्मजों के मत से इस मंदिर के प्रस्तराङ्कनों में कई एक ऐसे हैं जो भारतीय मूर्त्तकला एवं रूप शिल्प के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण कहे जा सकते हैं। मंदिर की दीवारों पर अंकित लक्ष्मी द्वारा पदचिह्नित अनन्तशायी विष्णु की मूर्त्ति

गजद्वार मोड़ का दृश्य, नरनारायण की मूर्ति, रामायण और महाभारत के अनेक भावपूर्ण दृश्य अथवा कलापूर्ण और मनोहरा हैं। कलाकार ने मूर्तियों का भावमयी स्थान में, उनके अङ्गधार विशेष कर परिच्छेद रेखा के अङ्कन में तथा उत्कीर्ण शक्तियों के क्रियाकानानों को गतिमान एवं सजीव बना देने में अपनी कलाकी पराकाष्ठा कर लियी है। इस मंदिर के कलात्मक प्रस्तुत कृति ने ही कलाममशो एव पुरातत्त्वशो का स्थान देवगढ़ की ओर सर्वाधिक आकृष्ट किया है। देवगढ़ के उपरोक्त हिन्दू धर्मापनन और कलाकृतियों इस रूप के परिचायक हैं कि यह स्थान किसी समय जैन एव हिन्दू धर्म तथा सङ्घटनियों का प्रमुख शिबिस्थान था। दोनों ही परम्पराओं के अनुयायी यहाँ सद्भाव एव सहयोगपूर्ण पले पूले थे और दोनों ने ही भारतवर्ष के सांस्कृतिक मंदार को समृद्ध करने में अभूतपूर्व योगदान दिया था।

शिलालेखीय सामग्री की भी देवगढ़ में प्रचुरता है। उत्तर भारतीय पुरातत्त्व विभाग की सन् १९१८ ई० की वार्षिक रिपोर्ट में इस स्थान से प्राप्त लगभग २०० शिलालेखों की सूचना हुई थी। उसके बाद भी लगभग एक सौ और लेख दृष्टिगोचर हुए हैं। फिर भी देवगढ़ में तथा उसके आस पास जगत्त में यत्र तत्र विपरीत हुई गड़बड़ अथवा अनेक जैन प्रतिमाओं पर उत्कीर्ण सभी लेखों का अभी तक समग्र और सूचना नहीं हो पायी है। रिपोर्ट में सूचित लेखों में ग लगभग डेढ़ सौ लेख पतिहासिक महत्त्व के हैं, कुछ एक तो अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। उपरोक्त लेखों में अधिकांश जैन लेख हैं, और लगभग साठ लेख ऐसे हैं जिनमें उनके अंकित किये जाने की तिथि का भी उल्लेख है। ये लेख प्रायः वि. स. ६१६ से १८३६ पर्यन्त के हैं। ये शिलालेख न केवल देवगढ़ के तत्कालीन जैनधर्मावलम्बियों के धार्मिक जीवन सामाजिक गठन तथा तत्सम्बन्धी इतिहास ज्ञान के लिये ही उपयोगी नहीं हैं वरन् भारतवर्ष के सामान्य राजनैतिक एव सांस्कृतिक इतिहास पर पुष्कल प्रकाश डालने हैं। साथ ही नागरी अक्षरों एव लिपि के अधिक विकास का अध्ययन करने के लिये भी ये लेख अधिक उपयोगी हैं।

प्रमुख शिलालेखों में समय और मन्त्र की दृष्टि से श्यावहार मंदिर का यह खदित लेख सब प्रथम है जो स० स० दयाराम साहनी ने यहाँ सन् १९१३ में देखा बनाया गया है और जिसके अनुसार सिन्धु भगवत गाविन्द ने उक्त मन्दिर के अधिराजदेव के लिये एक स्तम्भ प्रदान किया था। अनुमान किया जाता है कि ये भगवत गोविन्द समभवतया गुप्त सम्राट् नन्दगुप्त विक्रमादित्य के कनक पुत्र तथा सम्राट् कुमारगुप्त प्रथम के अनुज महाराजकुमार परम भागवत गोविन्दगुप्त थे। इसी लेख के आधार पर उक्त मन्दिर का निर्माण काल ५६० से ६०० ई० माना जाता है और इस मंदिर का गुप्तकालीन कहा जाता है। दूसरा लेख गारुडो की एक गुफा में प्राप्त हुआ है और स० ६६६ (सन् ५५२ ई०) का बताया जाता है। इसमें खदित श्यामिभट्ट का उल्लेख है। यह लेख भी गुप्तकालीन है। इनके

उपरान्त कन्नोज के गुर्जर प्रतिहार नरेश वत्सराज ग्राम के प्रयोग त्रौर नागावलोक या नागभट्ट द्वितीय के पौत्र मराराजाविगत परमेश्वर श्री भाजदेव के समय या जैन स्वम्भलेख है। इस लेख के अनुसार उक्त सम्राट् के पंच मरागद्व प्राप्त महामाम्ब श्री विष्णुग्राम के शासन में आचार्य कमलदेव के शिष्य प्राचार्य श्रीदेव ने इस लुप्रच्छगिरि के प्राचीन शास्त्रासन (शान्तिनाथ के मंदिर) के निकट गोष्ठिक वाजुश्रागगा द्वाग मानस्वम्भ निर्माण करके विक्रम संवत् ६१६ शककाल ७८४ की अश्विन शुक्ल चतुर्दशी वृत्परनिवार की उत्तराभाद्रपद नक्षत्र में प्रतिष्ठापित किया था।

अपने ऐतिहासिक एवं धार्मिक महत्त्व के अतिरिक्त सन् ८६० ई० के इस अभिलेख की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें विक्रम एवं शक दोनों ही संवत्‌ओं के एक साथ उल्लेख का प्रायः सर्व प्राचीन उदाहरण मिलना है। उत्तर भारत में स्थित देवगढ़ में विक्रम संवत् का ही प्रचलन था, किन्तु उक्त स्वम्भ के प्रतिष्ठाकर प्राचार्य दक्षिण भारत के निवासी रहे प्रतीत होते हैं, अतः लेख में उन्होंने दोनों ही संवत्‌ओं का उल्लेख कगना उचित समझा। और संयोग से इतिहासकारों के लिये उक्त दोनों संवत्‌ओं के परस्पर सम्बन्ध एवं अन्तर का एक प्राचीन स्पष्ट प्रमाण प्रस्तुत कर दिया। यह लेख देवगढ़ में प्राप्त स्वप्न विधि युक्त लेखों में सर्व प्राचीन है। शान्तिनाथ के इसी मंदिर की उत्तरी दालान में एक ज्ञानगिला अंकित है। यह विचित्र शिलालेख अठारह विभिन्न भाषाओं एवं लिपियों में उक्तरीण है। प्राचीन ब्राह्मी लिपि से लेकर पूर्वमध्यकालीन विभिन्न आर्य एवं द्राविड लिपियों तथा भाषाओं का इसमें समावेश है। हाँ, तुर्कों, अरबी, फारसी आदि भाषाओं या लिपियों का इसमें कोई चिन्ह नहीं है, अतः यह लेख मुसलमानों के भारत प्रवेश से पूर्व का ही होना चाहिये। कदा जाता है कि आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव की पुत्री ब्राह्मी ने उक्त अठारह लिपियों का सर्व प्रथम आविष्कार किया था। इसी मंदिर के निकट एक अन्य जैन मंदिर में ११-१२ वीं शती की लिपि में एक लेख है जिसमें एक दानशाला के बनाये जाने का वर्णन है।

राजघाटी पर एक शिलालेख संवत् १५४ (सन् ६०६७ ई०) का चन्देलनरेश कीर्तिवर्मन के मन्त्री वत्सराज का है जिसमें उसके द्वारा यहाँ एक दुर्ग बनवाने तथा इस स्थान का नाम कीर्तिगिरि रखने का उल्लेख है। सन् ११०७ के एक शि० ले० में एक जैन मंदिर के निर्माण का वर्णन है। सन् १२८८ के शि० ले० में राजा वीर द्वारा गढ़कुण्डार की विजय का उल्लेख है। सन् १४३६ ई० के शि० ले० से किन्हीं सिक्कों द्वारा एक जैन मन्दिर के निर्माण कराने का पता चलता है। इससे बुन्देखंड के जैनों की सिक्कों द्वारा जैमी पदवी की प्राचीनता भी सिद्ध होती है और यह भी पता चलता है कि मुसलमानी शासनकाल में भी देवगढ़ में जैन मंदिर बनते रहे और यहाँ जैनों की अच्छी बस्ती बनी रही। इस लेख के उपरान्त समय के भी अनेक

जैन मूर्ति एवं शिलालेख यहाँ प्राप्त हुए हैं। अन्तिम लेख जि स० १८७८ (सन् १८१६ ई०) का है। इस समय यह स्थान तु देवों से छिनकर मरहटा सरकार में गया व अधिकार में आ चुका था।

सन् १६१८ ई की पूर्वोक्त राजकीय पुस्तक विभाग द्वारा प्रकाशित रिपोर्ट में सूचित जैन शिलालेखों में जिन विभिन्न जैनाचार्यों, साधुओं, विद्वानों भावक भाविकाओं, राजा महाराजों आदि के नाम आये हैं वे इस प्रकार हैं—जैनाचार्य कमलदेव, भीदेव, शुभदेव, कीर्त्याचार्य, वीरनदि, गुणनदि, भारनदि, घमनदि, प्रसिद्ध अत्याता माधनदि, लोहनदि, आचार्य जयकीर्ति, यश कीर्ति, सत्यकीर्ति, देवेन्द्रकीर्ति, त्रिसुवनकीर्ति, महीचन्द्र, आचार्य नागसेन, माधवचन्द्र, अजित सिन्, सुरा सिन्, आदि।

आयिकाएँ—घमश्री, रदुआ, नवाधी आदि।

विद्वान्—प अजित सिन्, प० लजित सिन्, प० शुभकरदेव, प० लालदेव, प० माधवनिदि आदि। इनमें से कुछ एक भट्टारक या भट्टारकीय पंडित भी हो सकते हैं।

भावक—महीन्द्रसिन्, सारसिन्, भीसिन्, जसन्नेव, जैमिचन्द्र, विम्ब या इन्द्र जुगराव राजवाल, प्रभाकर, पन्न चमदेव और उसका पुत्र कल्पसिन् पाहस और उसका पौत्र केशव गोठिक याज या गाजु और उसका भाइ गंगा या गङ्ग सिधदेव, केशव और उसका पुत्र गोमिल नन्दे सिधई, आदि।

आयिका—साविनी, सलाखी जुगराव की पत्नी सवधी राजवाल की पत्नी लवनासारी, लालवा सदिवा, भीमती और उसकी भगिनी धनिया, आदि।

शासकगण—महाराजाधिराज भोजदेव महासामंत श्री विश्वराम, महासामंत उत्पताल महाराजाधिराज उदयसिन् पानीगढ़नरेश, महाराजाधिराज देवीसिन् और उनके पुत्र दुर्गासिन्, उदेसिन्, नृप्रसाल, कुशलसिन् तेजसिन् आदि।

इन लगभग सत्तर नामों में कई नाम ऐसे हैं जो कदाचार आये हैं। उल्लिखित राजा महाराजाओं, सामन्तों आदि में से कई ऐसे हो सकते हैं जो जैनधर्म के भक्त रहे हों। इस सूची में स्थानी और ग्रहस्थ सभी वर्गों के स्थी पुरुषों के नाम हैं। हमसे विदित होता है कि देवगढ़ निरक्षर पण्डित एक प्रसिद्ध जैन केन्द्र रहा है जिसके धार्मिक जातारण को प्रोत्साहित करने और सांस्कृतिक समृद्धि को बढ़ाने में जैनो के समग्र चतुर्विध यत्न का स्तुत्य योगदान रहा है। देवगढ़ के उदार जैनधर्म का उपयोग सभी वर्गों के स्थी पुरुष समान भाव से करते थे। देवगढ़ की उपरोक्त पण्डितों जिन ताओं द्वारा विभिन्न निष्कारण एवं बहुचर्चक कलाकृतियाँ उनकी धार्मिकता, दानशीलता, विद्वत्ता, कलाममकता एवं लौकिक समृद्धि को भा परिवारक हैं।

इस प्रकार अने आकर्षक प्राकृतिक वातावरण एवं भौगोलिक स्थिति, असंग्रह्य अप्रतिम कलाकृतियों, सैकड़ों ऐतिहासिक शिलालेखों, धार्मिक प्रेरणाश्रो, आदि के लिये देवगढ़ सामान्य दर्शकों, कलाप्रेमियों, पुरातत्त्वज्ञों, इतिहास के विद्यार्थियों तथा धार्मिक जनसाधारण सभी के लिये एक दर्शनीय एवं अ-पयनीय स्थल है। प्राचीन भारत का वैभव देवगढ़ आज भी भारतीय राष्ट्र का गौरव है। किन्तु इस अपूर्व स्थान के स्मारकों, पुरात्त्वविशेषों एवं कलाकृतियों आदि के समुचित संरक्षण, सुरक्षा, जीर्णोद्धार एवं खोज शोध और अध्ययन की दिशा में नत । एवं राज्य द्वारा ही नहीं स्वयं जैन समाज द्वारा भी जो कुछ कार्य अभीतक हुआ है वह नितान्त अपर्याप्त और अन्तोपजनक है। इस दिशा में अभी बहुत कुछ और व्यवस्थित ढंग से किये जाने की आवश्यकता है अन्यथा अन्य अनेक स्थानों की भाँति हमारा यह महत्त्वपूर्ण निधिकोप भी विकराल काल के विनाशकारी जवड़ों में शनैः शनैः विलीन होना चना जायगा।



महावीर संकट

[भा० प० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण, मूडवित्री]

'नैन सिद्धांत मास्कर' भाग २१, किरण २ में 'महावीर सक्त्' शीपक लेख 'मास्कर' के सह योगी सपादक मिश्रवर प० नेमिचंद्र भी शास्त्री, 'योतिषाचार्य का एक लेख प्रकाशित हुआ है। उस लेख में बताया गया है कि गौतम बुद्ध की मृत्यु भगवान् महावीर के निर्वाण लाम के १४ वर्ष पहले हुई थी। शास्त्री जो ने अपनी इस बात के समर्थन में बौद्ध ग्रंथ 'दीपनिकाय' के प्रकरण को उद्धृत कर अपनी बात को पौरुष किये है। "मन्त्री उदेही पुत्र, भगवन्नि राजा अजात शत्रु से बोला—'महाराज, ये निर्वाण नातपुत्र आगये य सध और गण के स्वामी हैं, गण के आचार्य और प्रख्यात कीर्त्तिमान् तीर्थ कर हैं सत्तन माय और बहुत लोगों के भद्रास्वद होने के उपरान्त ये निर दीक्षित और अवस्था में अर्धे हैं।' इस उद्धरण से यह निष्पन्न निकलता है कि यन्नि अजात शत्रु के राज के प्रथम वर्ष में ही भगवान् महावीर का आगमन मान लिया जाय तो उस समय बुद्ध की अवस्था ७२ वर्ष की ठहरती है क्योंकि अजात शत्रु के राज्यत्वकाल के ८ वें वर्ष में वे ८ वर्ष की अवस्था में निर्वाण को प्राप्त हुए थे। इस प्रथम में महावीर को अर्धव्य कहा गया है। अत इसमें स्पष्ट है कि महावीर की अवस्था उस समय ५० वर्ष की रही होगी। 'दीपनिकाय' के उल्लेखानुसार भगवान् महावीर का निर्वाण अजात शत्रु के राजकाल के २२ वें वर्ष में हुआ, क्योंकि इनकी संगुण आयु ७२ वर्ष की थी। इस विषय से बुद्ध के निर्वाण क लगभग २४ वर्ष पीछे महावीर का निर्वाण हुआ होगा।"

परंतु बौद्ध ग्रंथ 'सत्रियमुत्त' में सत्रिय नामक एक परिव्राजक का उल्लेख आया है। उसमें लिखा है कि एक बार उस परिव्राजक ने निर्वाण निगठ नांतपुत्र महावीर आदि तरहालीन छह प्राणी से कतिपय प्रश्न पूछे और उनसे उक्त प्रश्नों का समुचित उत्तर सत्रिय को नहीं मिला, तब उसने गौतम बुद्ध के पास गकर उनसे पूछा कि उही प्रश्नों का जबाब मागा। इस प्रकरण में उपर्युक्त महावीर आदि छह प्राणों का मिथ्या बुद्धा, मरल्लका, अद्वगता, वयो अनुपत्ता और धेरा ये ६ विशेषण लिये गये हैं। इसी प्रकार बुद्ध के लिये 'समणा हि गौतमो दहरो चैव जा तथा नवान वररज्जान' कहा है। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि भ्रमण गौतम उन प्रश्नों से अवस्था में छोटे और प्रख्यात में उनसे नवीन थे। इतना ही नहीं, इसमें यह भी निश्चय स्पष्ट हुआ है कि बुद्ध और महावीर समकालीन और बुद्ध महावीर से अवस्था पर आश्रम में कम से कम १०२ वर्ष के लिये छोटे थे।

इस प्रकार पूर्वोक्त रूप में महावीर की तरह बुद्ध भी 'भ्रमण सनी, गणी, गणान्तरिया, तिर्यकर, साधुसम्पत्ता बहु जनसह, आदि सम्मान सूचक शब्दों के द्वारा स्मरण किये गये हैं।

साथ ही साथ सूत्र के प्रारंभ में गौतम बुद्ध को स्पष्ट भगवान् (भगवान्) कहा है। इसमें यह अनुमान लगाना भी नियुक्तिकर नहीं है कि बुद्ध इसमें कुछ समय पूर्व ही सद्दे, मोक्षिज्ञान को प्राप्त करके श्रमण्य अवस्था में धर्मोपदेश देना प्रारंभ कर चुके थे।

बौद्ध ग्रन्थ का यह मतव्य वा उल्लेख शास्त्री जी के द्वारा उपस्थित किये गये पूर्वोक्त मंत्रव्य का प्रतिस्पर्शी है। ऐसी परिस्थिति में गौतम बुद्ध की मृत्यु भगवान् महावीर के निर्वाणलाभ के २५ वर्ष पहले हुई थी यह बात विचारणीय है। बल्कि इसके लिये पुष्ट प्रमाणों को समग्र करने की नितात आवश्यकता है।

भगवान् महावीर का निर्वाण्य बुद्ध के निर्वाण्य से १५ वर्ष पूर्व हुआ था, इस अननी बात को पुष्ट करने के लिये शास्त्री जी ने एक और उल्लेख दिया है। वह इस प्रकार है।

“डा० विनसेंट स्मिथ ने ‘पासाहिक सुत्तन’ के एक उल्लेख में महात्मा बुद्ध की जीवित दशा में महावीर का निर्वाण्य होना स्वीकार किया है परन्तु इस सम्बन्ध में ‘भगवनी सूत्र’ ने एक प्रकाश मिलता है। बताया गया है कि मंखलिगोशालक ने महावीर के ऊपर तेज लेण्या का प्रयोग किया था, जिससे जनता ने भ्रमवश उन्हें अस्वस्थ समझा और उनके दर्शन के लिये लोग गये। जब जनता मेडियाग्राम के निकट पहुँची तो वालुकाकच्छ के पास तपश्चरण्य करते हुए महावीर के शिष्य सिंहुसुनि का ध्यान टूट गया और प्रभु महावीर की अनिष्ट की अणका से वह रो उठा, जिससे जनता में महावीर के निर्वाण्य का अस्त्य समाचार फैल गया। यही समाचार बुद्ध तक उनके शिष्य आनंद ने पहुँचाया, इसीका उल्लेख ‘पासाहिक सुत्तन’ में है। अतः यह स्पष्ट है कि भ० महावीर का निर्वाण्य बुद्ध के निर्वाण्य से १५ वर्ष पूर्व हुआ और तमी से यह संवत् प्रचलित है।

शास्त्रीजी के द्वारा ऊपर उद्धृत भगवनीसूत्र के उल्लेख में मंत्रव्य गोशालक के द्वारा महावीर के ऊपर तेजलेण्या का प्रयोग किया जाना उसमें भ्रमवश महावीर को अस्वस्थ समझ कर उनके दर्शन के लिये लोगों का जाना, लोगों के मेडियाग्राम के निकट पहुँचने पर वालुकाकच्छ के पास तपश्चरण्य करनेवाले महावीर के शिष्य सिंहुसुनि का ध्यान टूट जाना, प्रभु महावीर के अनिष्ट की आशका से सिंहुसुनि का रो उठना और इससे जनता में महावीर के निर्वाण्य का अस्त्य समाचार फैलना आदि बातों में सहसा विश्वास नहीं जमता।

क्या एक सामान्य तपस्वी मंखलिगोशालक के द्वारा दीर्घतपस्वी, अप्रतिहतशक्तिधारी, तेजःपुञ्ज सर्वज्ञ भगवान् महावीर के ऊपर तेजलेण्या का प्रयोग किया जाना सम्भव है ? महावीर पर किया हुआ गोशालक का वह प्रयोग जैन मिद्धान्तानुसार क्या फलकारी हो सकता है ? इससे महावीर को अस्वस्थ समझनेवाले लोगों में कोई भी विचारशील व्यक्ति नहीं रहा होगा ? वालुकाकच्छ के पास तपश्चरण्य करनेवाले महावीर के शिष्य सिंहुसुनि का ध्यान टूट जाना, प्रभु

महावीर के अनिष्ट की आशंका से मुनि का रो उठना और इससे जनता में महावीर के निवाण का अक्षय्य समाचार फैलना आदि बातें भी इसी तरह मन में नहीं बैठती। मान लीजिये यही अक्षय्य समाचार बुद्ध तक उनके शिष्य आन ने पहुँचाया। क्या यह समय ने वाद ही सही, बुद्ध को सही समाचार नहीं मिला होगा? वाद जब उन्हें अक्षय्य समाचार मिला तो वे पूर्वश्रुत अक्षय्य समाचार को अपने सूत्र में कैसे स्थान देते?

अब शास्त्रीजी के द्वारा उद्धृत 'पाषाणिकमुत्त' के पत्र को उद्धृत करना भी आवश्यक है। बल्कि यह पद्य इस सूत्र में ही नहीं, 'सामगान' सूत्र में भी ज्यों का त्यों मिलता है। पत्र यह है—
एक समय भगवा सक्केसु विहरति तेन रवोपन समयेन।

निगठो नातपुत्तो पावाया अधुना कालकतो होति ॥'

अर्थात्—एक समय भगवान् बुद्ध जब शाक्य नगर में विहार कर रहे थे, तब निगठ नातपुत्त—महावीर के उसी समय पावापुर में निवाण प्राप्त करने की सूचना उन्हें मिली। इस पद्य से महावीर बुद्ध के जीवन काल में ही पावापुर में निवाण को प्राप्त हुए थे यह बात नि सन्देह सिद्ध होती है। पद्य का अर्थ स्पष्ट है। पौवात्य एव पाश्चात्य विद्वानों ने भी इस पद्य का यही अर्थ लगाया है। इसलिये शास्त्रीजी से आपद् अनुरोध है कि वे इस विषय पर फिर एकबार विचार करें।

एक बात और है। भद्रबाहुकृत कलासूत्र, पूष्यशाक्यकृत निवाणभक्ति, सकलकीर्तिकृत वर्धमान चरित्र और आशाधरकृत बरवाणमाला आदि में भगवान् महावीर का निर्वाण कातिक अमावस्या की रात्रि के अन्तिम प्रहर में स्वानिधेय में हुआ बताया है। किन्तु धीरसेनकृत घवनाटीका, गुणमद्रकृत उत्तरपुराण, अरुणकृत वर्धमान चरित्र और श्रुतकीर्तिकृत हरिवंशपुराण में भगवान् का यही निर्वाण कातिक कृष्णा चतुदशी की रात्रि के अन्तिम प्रहर में स्वानिधेय में कहा है। अब यह शका उठती है कि वस्तुतः महावीर का निर्वाण अमावस्या में हुआ है या चतुदशी में? कातिक कृष्णा चतुदशी की रात्रि के अन्तिम प्रहर में जबकि अमावस्या का आरंभ हो चुका था। स्वानिधेय का योग रहता तो इस शका के लिये स्थान ही नहीं था। इस विषय में मिश्रर भीमान् गोविन्द पै का कहना है कि निवाणतिथि को अमावस्या मानने पर ही स्वानिधेय का योग मिलता है और यह शुभ मुहूर्त ६० पू० ५२० सिन्धु १३ सोमवार को आया था। इसके पूर्व दिन चतुदशी की रात्रि अर्थात् सिन्धु १२ आदित्यवार की रात्रि में चन्द्रमा स्वानिधेय में नहीं था। किन्तु पूजकों विना नक्षत्र में रक्ष। इस विषय पर खासकर शास्त्रीजी अक्षय्य प्रकाश डालें। क्योंकि वे ज्योतिष के महान् विद्वान् हैं। अब, आप इतना ही जिनना था।



अहिंसा और पाँच जैनाचार्य

[पं० नेमिचन्द्र शास्त्री]

जैनाचार्यो ने अहिंसा धर्म का जितना विस्तृत विवेचन किया है, संभवतः अन्यत्र नहीं मिलेगा । श्रावकधर्म और मुनिधर्म का विवेचन करते हुए पूर्ण अहिंसा एवं आशिक अहिंसा के विशेषण के साथ, अहिंसा की मर्यादा, जैन प्रभृति बातों का बड़ी सूक्ष्मता के साथ निरूपण किया गया है । प्रस्तुत निबन्ध में स्वामी समन्तभद्र, अभिनवगति, अमृतचन्द्र, आशाधर और शुभचन्द्राचार्य के अहिंसा विषयक वचनों का संकलन किया जा रहा । पाठक देखेंगे कि श्रावक धर्म के निरूपण में इस विषय का साहित्य किस प्रकार उत्तरोत्तर विकसित हुआ है । जहाँ चरित्र पाट्टुड, भाव सम्रद आदि ग्रन्थों में अहिंसा की व्याख्या एवं श्रावक और मुनि की पदमर्यादा के अनुसार अहिंसा की सीमारेखा निर्धारित की गयी है, वहाँ उत्तरवर्ती आचार्यों ने इस धर्म की विस्तृत समीक्षाएँ भी की हैं । तत्त्वार्थ सूत्र के टीकाकार पूज्यपाद^१, अकलंकदेव^२, विद्यानन्दी^३, प्रभृति^४ ने भी

१ प्रमाद. सकयायत्वं तद्धानात्मपरिणामः प्रमत्तः प्रमत्तस्य योग प्रमत्तयोग. तत्त्मात् म प्राणिनोदुःखहेतुवादधर्महेतु । प्रमत्तयोगादिति विशेषणं केवल प्राणव्यपरोपणं नाधर्मायेति ज्ञानार्थम् । उक्तं च—वियोजयति चानुभिर्न च बधेन सयुज्यते इति । उक्तं च उच्चाखिलिदंमि पादे इरियात्तमिदस्स खिण्णखट्वाणं । आवादेज्ज कुल्लिगो मरेज्ज तं जोगमापेज्ज ॥ एहि तस्म तखिण्णमित्ते घन्पोनुइमोवि देसिदो समये । सुच्छापरिगहोत्ति य अक्कण्णमाणदो भण्णित्ते ॥ ननु च प्राणव्यपरोपणमाभावेऽपि प्रमत्तयोगमात्रादेव हिंसेष्यते । उक्तं च मरहु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स खिच्छिदा हिंसा । पयदस्स खण्णियन्नधो हिंसामित्तेण नमिदस्स ॥ इति, नैय दोष । अत्रापि प्राणव्यपरोपणमस्ति भावलक्षणम् तथा चोक्तम्—स्वयमेवात्मनाऽऽमान् हिनस्स्यात्मा प्रमादवान् । पूर्वं प्राण्यन्तराणान्तु पश्चात्स्याद्वा न्धावधः ॥—सर्वार्थसिद्धि^१ पृ० २३०-२३१

२ अनवगृहीतप्रचारविशेष प्रमत्तः, अभ्यन्तरीकृतेवार्थो वा, पंचदशप्रमादपरिणतो वा ... ।
—तत्त्वार्थराजवार्त्तिक पृ० २७५

३ हिंसा हि द्वेषा भावतो द्रव्यतश्च । तत्र भावतो हिंसा प्रमत्तयोग सन् केवलस्तत्र भाव-प्राणव्यपरोपणस्यावश्यंभाविवात् । ततः प्रमत्तस्यात्मन स्वात्मघातिवात् रागाद्युत्पत्तरेव हिंसात्वेन समये प्रतिवर्णनात् । द्रव्यहिंसातु परद्रव्यप्राणव्यपरोपणं स्वात्मनो वा तद्विधायिनः प्रायश्चित्तोपदेशो भावप्राणव्यपरोपणभावात् तदसंभवात् प्रमत्तयोग स्यात् तद्धि पूर्वकस्य यत्तेरप्यवश्यभावात् ।

—तत्त्वार्थश्लोमवार्त्तिक पृ० ४६२

४ जह तेण पियं दुक्ख, तहेव तेसि पि जाण जीवाणं ।
पूर्वं एच्चा अप्पो वमिञ्चो जीवेषु होहि सदा ॥
सन्नेसिमासमाण हिदयं गम्भो ह सच्च सथाणं ।
सन्नेसि चदगुणाणं, पिण्डो सारो अहिंसा ॥—भगवती आराधना गा० ७८०, ७६३

अहिंसा का विवेचन भी खोलकर किया है। इसी प्रकार भगवती आराधना मूलाचार्य आदि में भी अहिंसा का विस्तार निरूपण किया गया है।

स्वामी समन्तभद्र—

विन्म शब्द की ३४ थी शती में स्वामी समन्तभद्र ने विपुल परिमाण में जैन साहित्य का प्रथम विवेचन किया है। आपने गृहस्थाचार पर रत्नकरण्ड भावकाचार नामक ग्रंथ लिखा है, इसमें गृहस्थाचार का विस्तृत विवेचन है। गृहस्थ बड़ी ही सफ़ाई से जो आठ मूल गुणों का पालन करे। मूलगुणों को धारण किये बिना कोई भी व्यक्ति आनन्द प्राप्त नहीं पा सकता है। स्वामी समन्तभद्र ने पचासग्रन्थों की मूलगुणों में दशान देकर आरम्भिक भावक को ही आशिक अहिंसा को सम्यक्तया पालन करने के लिए प्रेरित कर दिया है। जिस प्रकार मनुष्य जड़ के बिना वृक्ष की स्थिति समान नहीं अथवा गहरी मजबूत नींव के बिना दीवार की दृढ़ता समान नहीं उसी प्रकार अहिंसाग्रन्थ, सत्याग्रन्थ अचौर्याग्रन्थ, ब्रह्मचर्याग्रन्थ और परिश्रमपरिमाणग्रन्थ के पालन के साथ मद्य मांस और मनुष्यात्याग किये बिना गृहस्थ की स्थिति समान नहीं। अहिंसक और सात्विक होने पर ही व्यक्ति यथाथ में गृहस्थ होता है। जो दयालु है समस्त जीवों के प्रति जिनके हृदय में अरुणत्व की भावना जाग्रत हो गयी है, एसा व्यक्ति ही धर्म के उपदेश को सुनने का अधिकारी है। अहिंसा धर्म का पालन करनेवाला भावक अपनी इच्छा और वासनाओं को भी सममित बनाता है तथा इस धर्म के पालन के लिए झूठ, चोरी, कुसोल और अधिक सचय की वृत्ति का त्याग करता है। प्राणिमात्र के साथ उसकी सन्तुष्टि और मित्रता हो जाती है।

स्वको परधानने तथा आत्मानुभूति में दशनमोदनीय का उदय अधिक थापक है। जब आत्मा में सम्मत्त—स्व स्वरूप का विश्वास हो जाता है तो आत्मा धर्म की ओर प्रवृत्ति करने लगती है। अहिंसा पर विश्वास भी तभी होता है जब आत्मा में दशनमोद के उदय, क्षय या क्षमोपशम होने पर धर्म धारण की योग्यता उत्पन्न हो जाय। स्वामी समन्तभद्र ने इसी कारण सबसे प्रथम भावक को सम्यग्दृष्टि बनने पर जोर दिया है। पाप के कारण हिंसा, झूठ, चोरी, कुशांत और अति सचय या अमपान्ति सचय का त्याग करना चारित्र्य बताया है।

अहिंसाग्रन्थ

सङ्ख्योक्तकारितमनायोगत्रयस्य धरसत्त्वान् ।

न दिनस्ति यत्तदाहु स्थलवधाद्विरमण निपुणा ॥—रत्न० श्लो० ५३

१ पृथिव्यादिपाया पञ्चविधावन्मोदया सम्म ।

त खलु य हिंसिद्वा मण्यवधिकायेण सन्धय ॥—मूलाचार पञ्चाचार अ० गा० २८६

२ मद्यमांसमनुष्यागै सहाशुमत्पञ्चाम् ।

अथै मूलगुणानामुहिंसार्थं धर्मयोगिता ॥—रत्न श्लो० ६६

अर्थ—मन, वचन, काय और कृण, कारित, अनुमोदना से सफल कर व्रसहिंसा—द्वीन्द्रयादि जीवों की हिंसा का त्याग करना अहिंसागुत्रन है ।

इस व्रन का समुचित पालन करने के लिए पौंच श्रतीचारों का भी त्याग करना आवश्यक है ।

अतीचार—

छेदनबन्धनपीडनमतिभारारोपणत्रयीचाराः ।

आहारवारणापि च स्थूलवधाद्ब्युपरतेः पच ॥—रत्न ग्लो० ५४

अर्थ—छेदन—पशुओं या मनुष्यों के नाक, कान आदि अंगों का काटना; बन्धन—पशुओं को रस्सी आदि से बाँधना, पीडन—किसी का भी कोटा, जाठी आदि से पीटना, अतिभारारोपण—शक्ति से अधिक बोझ लादना, और आहारवारण—आहार-पानी का रोकना अथवा समय पर आहार-पानी का न देना, ये पौंच अहिंसागुत्रन के अतीचार हैं ।

अमितगति—

विक्रम की ११ वीं शती में आचार्य अमितगति ने अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया है । इनमें श्रावकाचार प्रसिद्ध ग्रन्थ है । इसमें आचार्य ने अहिंसा धर्म का वर्णन बड़े सुन्दर ढंग से किया है । अहिंसा की परिभाषा, गृहस्थ के लिए अहिंसा की मर्यादा, हिंसा के कारण, देव-मंत्र-श्राप आदि के लिए हिंसा का निषेध एवं अहिंसा की महत्ता का सविस्तार निरूपण किया है ।

अहिंसागुत्रन की परिभाषा—

स्थूल हिंसा के त्याग को अहिंसागुत्रन व्रतलाया है । विश्व में दो प्रकार के प्राणी हैं—व्रस और स्थावर । जो गृहस्थ व्रस जीवों की हिंसा का पूर्णतया त्याग कर देना है तथा मद्य, मास मधु और श्रमच्य का त्यागी होता है, वहीं अहिंसागुत्रन का पालन करता है । अहिंसागुत्रन के पालन करनेवाला का संयतामयत रूप होता है, अन उसे इन्द्रियों के विषयों से भी विरक्ति रखनी होती है । ससार, शरीर और भोग इन तीनों में भी विरक्त होना आवश्यक है ।

द्वेषा जीवा जेनेमतास्त्रसस्थावरप्रभेदेन ।

तत्र व्रसरक्षायां तदुच्यतेऽगुत्रन प्रथमम् ॥

स्थावरघाती जीवस्त्रससंरक्षी विशुद्धपरिणामः ।

योऽक्षविषयान्निवृत्तः सः संयतासंयतो ज्ञेयः ॥ —अभि० श्रा० अ० ६ ग्लो० ४-५

अर्थ—जीव दो प्रकार के हैं—व्रस और स्थावर । व्रस जीवों की रक्षा करना अहिंसागुत्रन है । यद्यपि शक्यनुसार स्थावर जीवों की हिंसा का भी अगुत्रती त्यागी होता है; परन्तु पूर्णरूप से स्थावर जीवों की रक्षा करने में गृहस्थ असमर्थ रहता है । अतएव व्रस हिंसा का पूर्ण त्यागी, विशुद्ध परिणामों का धारी, इन्द्रियों के विषयों से विरक्त अथवा देशव्रती कहलाता है ।

हिंसा की परिभाषा—

प्राणी प्रमादकलित प्राणायपरोपण यत्प्रधत्ते ।

सा हिंसाऽकथि दक्षैर्भववृत्तनिपेकनलधारा ॥—अमि० भा अ ६ श्लो० २४

अर्थ—प्रमाद से युक्त हाकर अन्य जीवों के प्राणों का घात करना हिंसा है। हिंसा करने से सधाररूपी वृद्ध की मर्यादा बढ़ती है—हिंसा सधाररूपी वृद्ध का विचित्र करने के लिए जल की धारा के समान है।

हिंसा के कारण और भेद—

सरभसमारभैर्यागकृतकारितानुमते ।

सकपायैरभ्यस्तैस्तरसा सपद्यते हिंसा ॥

त्रिप्रिचिचतु सरयै सरभायै परस्पर गुणितै ।

अप्येत्तरशतभदा हिंसा सपद्यते नियतम् ॥—अमि० भा० अ० ६ श्लो १२ १३

अर्थ—सरम्भ—कपाय युक्त होकर हिंसा करने का विचार करना समारम्भ—हिंसा के साधन सामग्री जुटाना आरम्भ—हिंसा करने का उपक्रम, कृत—स्वयं हिंसा करना, कारित—दूसरे से हिंसा कराना अनुमोदन—काँई हिंसा करता हो तो उसकी प्रशंसा करना मन—मन में हिंसा की भावना लाना, वचन—हिंसक वचन बोलना काम—हिंसा की क्रिया करना तथा क्रोध, मान माया और लोभ कपाय के आवेश से हिंसा करना इस प्रकार एक सौ आठ कारणों से हिंसा होती है—हिंसा के १०८ भेद हैं। प्रत्येक काय के सरभ, समारम्भ, आरम्भ के भेद से ये ३ तीन भेद हुए पश्चात् मन, वचन, काय इन तीन योगों से युक्त क्रिया तो $३ \times ३ = ९$ नौ भेद हुए। इन नौ के साथ कृत कारित और अनुमोदन का संयोग किया तो $९ \times ३ = २७$ भेद हुए। इनके साथ क्रोध, मान माया और लोभ कपाय का योग किया तो $२७ \times ४ = १०८$ भेद हुए।

हिंसा अहिंसा की व्यवस्था—

प्रियतां मा मृत जीव प्रमाद बहुलस्य निश्चिता हिंसा ।

प्राणायपरोपेऽपि प्रमाद हीनस्य सा नास्ति ॥—अमि० भा अ ६ श्लोक २१

अर्थ—हिंसा और अहिंसा की व्यवस्था प्राणों के घात या प्राणों की रक्षा के ऊपर अवलम्बित नहीं है। किंतु जहाँ कपाय समादि युक्त हिंसक परिणाम होते हैं, वहाँ अवश्य हिंसा होती है। स्वयं रूप प्रवृत्ति रखने पर—वचन की भावना रखने पर सावधान व्यक्ति को प्राणों का घात हो जाने पर भी हिंसा नहीं होती। उदाहरण के लिए यों कह सकते हैं कि एक व्यक्ति सावधानी पूर्वक देख देखकर चल रहा है। उसके पैर उठाने पर कोई चुद्र जल अकस्मात् कुचल जाने से भर जाता है तो उस व्यक्ति को हिंसा का पाप नहीं लगता। इसी प्रकार एक

व्यक्ति असावधानी से मार्ग चलता है, जोवरक्षा का उद्योग ध्यान नहीं है, ऐसी अवस्था में किसी प्राणी का घात हो या न हो, पर उसे हिंसा का पाप लगेगा। अतः यत्नाचार—सावधानी पूर्वक प्रवृत्ति करना अहिंसा है और अयत्नाचार—असावधानी पूर्वक प्रवृत्ति करने का नाम हिंसा है।

मन्त्रौषधादि के लिए भी हिंसा का त्याग—

देवातिथिमन्त्रौषधिपित्रादिनिमित्ततोऽपि सपन्ना ।

हिंसा धत्ते नरके किं पुनरिह नान्यथा विहिता ॥—अग्नि० धा० अ० ६ श्लो० २६

आत्मवधो जीवव्यस्तस्य च रक्षात्मनो भवति रक्षा ।

आत्मा न हि हन्तव्यस्तस्य वधस्तेन मोक्तव्यः ॥—अ० ६ श्लो० ३०

किसी-किसी का मत है कि धर्म मन्त्रौषधादि के निमित्त ने दुई हिंसा पाप का कारण नहीं है, किन्तु पुण्य का कारण है। आचार्य इसी प्रश्न का उत्तर देते हुए करते हैं कि हिंसा त्रिकाल और त्रिलोक में कभी भी पुण्योत्पादक नहीं हो सकती है। देवी-देवताओं के नाम पर हिंसा करना, अतिथि सत्कार के लिए हिंसा करना, मन्त्र सिद्धि के लिए हिंसा करना, औषध निर्माणा में हिंसा का प्रयोग करना तथा विनय को सन्तुष्ट करने के लिए हिंसा करने से नरक गति की प्राप्ति होती है। क्योंकि जोव हिंसा करना आत्मवध और जोवरक्षा करना आत्मरक्षा है, अतएव सभी प्रकार की हिंसा का सदा त्याग करना चाहिए।

अहिंसा की महिमा —

जीवत्राणेन विना व्रतानि कर्माणि नो निरस्यति ।

चन्द्रेण विना नर्चेर्हन्यन्ते तिमिरजालानि ॥

तिष्ठन्ति व्रतनियमा नाहिंसामन्तरेण सुखजनकाः ।

पृथिवीं न विना दृष्टास्तिष्ठन्तः पर्वताः कापि ॥

निघ्नानेनाहिसामात्मधारा निपात्यते नरके ।

स्वाधारां न हि शाखा छिदानः किं पतति भूमौ ॥अग्नि० धा० अ० ६ श्लो० १४-१६

अर्थ—जीव दया के विना व्रत-उपवास भी कर्मों की निर्जरा का साधन नहीं होते हैं—अहिंसा पूर्वक ही व्रतों के पालन करने का फल प्राप्त होता है। जिस प्रकार चन्द्रमा के विना नक्षत्र समूह अन्धकार का विन्वस नहीं कर सकता है, उसी प्रकार अहिंसा के अभाव में केवल व्रत-उपवास कर्मों की निर्जरा नहीं कर सकते हैं। सुबोत्पादक व्रत और निमम अहिंसा के विना कभी भी संभव नहीं है, जिस प्रकार पृथ्वी के विना पर्वतादि की स्थिति संभव नहीं, उसी प्रकार अहिंसा की पृष्ठभूमि के विना कोई भी शुभ कृत्य नहीं हो सकता है।

आत्मा का आधारभूत धर्म अहिंसा ही है, इसके अभाव में जीव नरक जाता है। जिस प्रकार जिस वृक्ष की शाखा पर बैठा हो, उसीको काटनेवाला व्यक्ति पृथ्वी पर गिरता है उसी

प्रकार समस्त धर्म और क्रियाओं का आधारस्तम्भ अहिंसा है, इसके बिना धारण किये प्राणी भी नरक जाता है।

हिंसक जीव की हिंसा करना भी अविधेय है—

केचिद्वदति मूढा हतव्या जीवघातिनो जीवा ।

परन्वीवरक्षणायं धर्मार्थं पापनाशार्थम् ॥

युक्त तन्नैव सति हिंस्रत्याः प्राणिनामशेषाणाम् ।

हिंसाया क शक्तो निषेधने चायमानाया ॥—अ० ६ श्लो ३३, ४

अर्थ—पर प्राणियों की रक्षा के लिए, पापनाश करने के लिए एव धर्म की रक्षा के लिए हिंसक सिंहादि का घात करना विधेय है, क्योंकि हिंसक प्राणी जबतक जीवित रहेंगे तबतक हिंसा करते रहेंगे। अतः हिंसा की परम्परा को न टूट करने के लिए कुछ पापी प्राणियों का घात करना अच्छा है। यह शका या प्रश्न ठीक नहीं है क्योंकि जिस प्रकार सिंहादि अथवा प्राणियों का वध करने के कारण व्यर्थ है, उसी प्रकार सिंहादि की हिंसा करनेवाला भी व्यर्थ है, पुनः इसी प्रकार उसकी हिंसा करनेवाला भी व्यर्थ हो जायगा। अतः यह परम्परा अनन्तकाल तक चली जायगी, वही भी शांत नहीं होगी। अतएव हिंसक जीव भी अब यह है अहिंसक मानव किसी की हिंसा नहीं करता है। सरक साय प्रेम और वायुत्र का परहार रखता है। अहिंसक प्राणी को आमशक्ति के प्रभाव से हिंसक प्राणियों की मूर्ता नष्ट हो जाती है, उनकी आत्मा भी अहिंसक बन जाती है। अतः अहिंसा के द्वारा ही हिंसक को अहिंसक बनाया जा सकता है। हिंसा के द्वारा हिंसक का अंत नहीं किया जा सकता।

पापी की हिंसा भी अविधेय है—

पापनिमित्त हि यथ पापस्य विनाशने न भवति शक्त ।

छेदनिमित्त परशु शक्नोति लता न घट्टयितुम् ॥

हिंसाया यदि घाते धर्म समवति विपुलफलदायी ।

सुखविघ्नस्तद्दि गत परजीवविघातिनां घाते ॥

यस्माद्गच्छति गतिं निहता गुरुदुःखसकटां हिंसा ।

तस्माद्दूर ददत पाप न भवति कथं धारम् ॥—अ० ६ श्लो० ३६, ३८

अर्थ—पाप के लिए की गयी हिंसा पाप का मोचन नहीं कर सकती है। लता को काटने के लिए प्रदुक्त गुरुदात्री लता का संबन्धन नहीं कर सकती। यदि हिंसक जीवों की हिंसा को महात्फलदायक समझते हैं तो यह भारी मूल है क्योंकि हिंसा स्वयं पर सुख का विघातक होने के कारण कभी भी सुखदायक नहीं हो सकती है। अतएव हिंसक मदा नरकादि गतियों को प्राप्त करता है। पाप और हत्यारे का सुधार दण्ड या हिंसा से नहीं हो सकता है। उसका

सुधार भी सहानुभूति और सहृदयता ने ही हो सकता है। आत्मा का स्वभाव अहिंसामय है, इसीके प्रयोग द्वारा पापी, दुःगचारी और लंपट का सुधार या उत्थान किया जा सकता है। अहिंसा में इतनी बड़ी शक्ति है कि उसके द्वारा संसार में पाप, दुराचार को दूर भगाया जा सकता है। अतः संसार में हिंसा के द्वारा पापी का सुधार संभव नहीं है।

सुखी और दुःखी जीव को मारना भी वर्ज्य है—

दुःखवता भवति वधे धर्मो नेदमपि युज्यते वक्तुम् ।

मरणो नरके दुःख घोरतर वार्यते केन ॥

सुखितानामपि घाते पापप्रतिषेधने परो धर्म ।

जीवस्य जायमाने निषेधितुं शक्यते केन ॥—अ० ३ श्लो० ३६-४०

मनसा वचसा वपुषा हिंसां विदधाति यो जनो मूढः ।

जन्मवनेऽसौदीर्घ दीर्घं चचूयते दुःखी ॥—अ० ६ श्लो० ४४

अर्थ—इसका दुःख जल्द दूर हो जाय, इसीलिए दुःखी को मारने में पुण्य है, पाप नहीं। यह भी गलत है; क्योंकि मारते समय महान् संकलाप परिणाम मरने और मारनेवाले दोनों के होते हैं, जिससे नरक में जन्म लेना पड़ता है। इसी प्रकार सुखी जीवों को इस ध्येय से मारना वे अवशेष सुख का भोग अगले जन्म में करेंगे, गलत है; क्योंकि मरने और मारनेवाले दोनों के सकलेश परिणाम होने से दोनों को कुगति की प्राप्ति होती है। जो मन, वचन और काय से हिंसा करता है, वह बहुत काल तक संसार में जन्म-मरण के ऋष्ट उठाता रहना है।

अहिंसाण्व्रत के अनीचार—

भारतिमात्रव्यपरोपघातछेदान्नपानप्रतिषेधवधा ।

अणुव्रतस्य प्रथमस्य दक्षैः पचापराधाः प्रतिषेधनीयाः ॥—अ० ७ श्लो० ३

अर्थ—अति भारारोप—अधिक बोझ लादना, उखाटना—लाठी, कोड़ा आदि से मारना, छेद—नाक-कान आदि का छेदना, अन्नपाननिरोध—अन्न जल का रोकना, और बंध—बाधना ये पंच अनीचार हैं।

अमृतचन्द्राचार्य—

अहिंसा का जितना व्यापक और व्यावहारिक विवेचन १२ वीं शती में आचार्य अमृतचन्द्र सूरि ने किया है, उतना पूर्व या परवर्ती किसी भी आचार्य ने नहीं। गृहस्थ को किस प्रकार के अहिंसा धर्म का पालन करना चाहिये, उसकी अहिंसा-मर्यादा कहीं तक रहनी चाहिये, आदि बातें इनके ग्रन्थ 'पुरुषार्थ सिद्धयुपाय' से जानी जा सकती हैं।

हिंसा का लक्षण—

यत्प्रलुकपाययोगात्प्राणानां द्रव्यभातरूपाणाम् ।

व्यपरोपणस्य करणमुनिश्चिता भवति सा हिंसा ॥—पु० मि० श्लो ४३

अर्थ—कृपायरूप परिणत हुए मन वचन और काय से द्र य और भाव प्राणों का घात करना हिंसा है। अभिप्राय यह है कि कृपायवश होकर अपने या परके भाव प्राण और द्र य प्राण का घात करना हिंसा है।

प्राणघात का नाम हिंसा नहीं है, अपितु रागादि का नाम हिंसा है

अप्रादुर्भाव यत्तु रागादीनां भवत्यहिंसेति ।

तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति चिनागमस्य मत्तैव ॥—४४

अर्थ—राग, द्वेष, मोह, क्रोध मान, माया लोभ हास्य, भय, शोच, जुगुप्सा और प्रमादादि विभावों को उत्प न न हाने देना अहिंसा है और इन विभावों की उत्पत्ति होना हिंसा है।

युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावशम तरणापि ।

न हि भवति जातु हिंसा प्राण यवरोपणादेव ॥ ४५ ॥

अर्थ—सावधानी पूर्वक आचरण करने वाले स त पुरुष के रागादि भावों के विना केवल प्राणपीडन से हिंसा नहीं होती है।

व्युत्थानावस्थार्या रागादीनां वशप्रवृत्तायाम् ।

स्त्रियतां जातो मा वा घातत्यग्रे ध्रुव हिंसा ॥ ४६ ॥

अर्थ—जो प्रमात्नी जीव कृपायों के वशीभूत हाकर गमनादि क्रिया य नपूरक नहीं करता है, उसके 'जीव मरे या न मरे' हिंसा अवश्य होती है। क्योंकि असावधानी और कृपाययुक्त भावना का नाम हिंसा है।

दशमात्मकपाय सन् हत्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम् ।

परश्चात्पायते न वा हिंसा प्राण्यतराणां तु ॥ ४७ ॥

अर्थ—जीव कृपाय भाव सन्नि होने से अपने द्वारा आत्मको घातना है, फिर पछे से अ य जीवों की हिंसा हो अथवा न हो। तात्पर्य यह है कि हिंसा का अर्थ घात करना है यह घात जो प्रकार का है एक आत्मघात और दूसरा परघात। जिन समय आत्मा में कप य भावों की उत्पत्ति होती है, उस समय आत्मघात ही जाता है, पीछे यदि अ य जीवों की आयु पूरी हो गयी अथवा पार का उन्मय आया हो तो उनका भी घात हो जाता। आयु के रहते हुए कदाचित् प्राणी की हिंसा नहीं भी हो सकती है, परंतु कृपाय भाव होने के कारण अपनी आत्मा वा घात अथवा हो पायगा।

हिंसा के त्याग क प्रतिज्ञा बिना घात नहीं करने पर भी हिंसा—

हिंसाया अचिरमण हिंसापरिणमनमपि भवति हिंसा ।

तस्मात्प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपणं नित्यम् ॥ ४८ ॥

हिंसा दो प्रकार की होती है—अचिरमणरूप और परिणमन रूप । पर घात में प्रवृत्त न होने पर भी हिंसा त्याग की प्रतिज्ञा के बिना होने वाली हिंसा अचिरमणरूप हिंसा कहलाती है । क्योंकि अहिंसा की प्रतिज्ञा के बिना अन्तरंग में हिंसा का सञ्जाव रहता है, अन्तः प्रतिज्ञा के अभाव में हिंसा नहीं करने पर हिंसा होती है । परघात में मन, वचन, काय से प्रवृत्त होने पर परिणमन रूप हिंसा होती है । इसमें भी प्रमाद रहता है अतएव प्रमाद को दूर करने के लिए पर जीवों की हिंसा के त्याग की दृढ़ प्रतिज्ञा होनी चाहिये ।

हिंसा का कारण परिग्रह है—

सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबन्धना भवति पु सः ।

हिंसायतननिवृत्तिः परिणामविशुद्धये तदपि कार्या ॥ ४९ ॥

अर्थ—निश्चय कर आत्मा पर वस्तु का कारण नहीं है, अतः सूक्ष्म हिंसा भी नहीं होती है । फिर भी परिणामों की निर्मलता के लिए हिंसा के कारण परिग्रह का त्याग करना उचित है । तात्पर्य यह है कि रागादि कषाय भावों का हाना हिंसा है, पर वस्तु का इसके कोई सम्बन्ध नहीं है, परन्तु रागादि परिणाम परिग्रह के निमित्त से होते हैं, अतः परिणामों की विशुद्धि के लिए परिग्रह का त्याग करना आवश्यक है ।

कोई व्यक्ति ऐसा कहे कि मेरे अन्तरंग परिणाम शुद्ध हैं, इसलिए बाह्य आरम्भ—हिंसा करते हुए तथा परिग्रह रखते हुए भी मुझे कोई पाप नहीं लगता, यह ठीक नहीं है । परिग्रह आदि के कारण परिणाम कदापि शुद्ध नहीं रह सकते; क्योंकि उसके ये सब कार्य बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ करने से ही होते हैं । इसी भाव को आचार्य ने बतलाया है—

निश्चयमनुध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव संश्रयते ।

नाशयति करणचरणा स बहिःकरणालसो बालः ॥ ५० ॥

अर्थ—जो जीव यथार्थ निश्चय के स्वरूप को न जानकर उसको ही निश्चय श्रद्धान से अगीकार करता है, वह मूर्ख बाह्य क्रिया में आलसी है और बाह्य क्रिया रूप आचरण को नष्ट करता है ।

हिंसाफल की व्यवस्था—

अविधायापि हिंसा हिंसाफलभुग् भवत्येकः ।

कृत्वाप्यपरो हिंसा हिंसारुलभाजनं न स्यात् ॥ ५१ ॥

अर्थ—जिसके परिणाम हिंसा रूप हो गये हैं ऐसा जीव हिंसा न करके भी हिंसा का फल भोगने का पात्र होता है। परिणामों में हिंसा न आने पर हिंसा करके भी जीव हिंसा का फल भोगने का पात्र नहीं होता।

एकस्याल्पा हिंसा ददाति काले फलमनल्पम्।

अयस्य महाहिंसा स्वल्पफला भवति परंपाके ॥ ५२ ॥

अर्थ—एक व्यक्ति थोड़े हिंसा करके अधिक दिनों के परिणामों के कारण उन्पक्षाल में अधिक फल प्राप्त करता है और दूसरा व्यक्ति उड़ी भारी हिंसा करने भी परिणामों की निम्नता के कारण उदयकाल में स्वल्प फल को पाता है।

ष पापों की तीव्रता और मन्दता के कारण फलव्यवस्था—

एकस्य सैव तीव्र दिशति फल सैव म दमयस्य।

जज्ञति सहकारिणोरपि हिंसा चैचन्द्रमज्ज फलकाले ॥ ५३ ॥

जो आदमी मिलकर हिंसा करे तो जिसके परिणाम तीव्र कणाय रूप हुए हैं, उसे उन्पक्षाल में अधिक फल और जिसके परिणाम मन्दकणाय रूप हैं, उसे अल्पफल भोगना पड़ता है।

प्रागेव फलति हिंसा क्रियमाणा फलति च कृतापि।

आरभ्य क्तुमकृतापि फलति हिंसानुभावेन ॥ ५४ ॥

किसी को हिंसा करने के पहले ही, किसी को करते समय, किसी को हिंसा कर चुकने पर, किसी को हिंसा आरम्भ करने पर और किसी को हिंसा न करने पर अपने कर्मभावों की तीव्रता या मन्दता के कारण फल प्राप्त होता है।

एक हिंसा करता है फल अनेक पाते हैं और अनेक हिंसा करते हैं फल एक पाता है—

एक करोति हिंसा भवति फलभागिनो बहव।

बहवो विदधति हिंसा हिंसाफलभुग् भवत्येव ॥ ५५ ॥

एक व्यक्ति हिंसा करता है, पर फल भागनेवाले अनेक होते हैं, इसी प्रकार हिंसा बहुत से व्यक्ति करते हैं, पर फल एक व्यक्ति को मिलता है। तात्पर्य यह है कि जीव को मारते देखकर जो अन्ध्रा कहते हैं और प्रसन्न होते हैं वे सभी हिंसा के फल भागी हैं इसीसे एक करता है और अनेक फल भोगते हैं। इसी प्रकार संग्राम में हिंसा तो अनेक करते हैं, परन्तु उनको आशा देने वाला सेनापति या अथ स्वामी उसके फल का भागी होता है।

कस्यापि दिशति हिंसा हिंसाफलमेकमेव फलकाले।

अयस्य सैव हिंसा दिशत्यहिंसाफलं त्रिपुलम् ॥ ५६ ॥

किमी पुरुष को तो हिंसा उदयकाल में एक ही दिशाफल को देती है और किसी को वही हिंसा बहुत ने अहिंसा के फल को देती है ।

हिंसा द्वारा अहिंसा फल और अहिंसा द्वारा हिंसा फल—

हिंसाफलमपरस्य तु द्वात्यहिंसा तु परिणामे ।

उत्तरस्य पुनर्हिंसा विशत्यहिंसाफल नान्यत् ॥ ५७ ॥

किमी को अहिंसा उदयकाल में हिंसा के फल को देती है तथा अन्य व्यक्ति को हिंसा अहिंसा के फल को देती है, अन्य फल ही नहीं । अभिप्राय यह है कि कोई व्यक्ति किसी जीव के बुरा करने का यत्न कर रहा हो, परन्तु उस जीव के पुण्योदय से कदाचित् बुरे की जगह पर भला हो जाय, तो भी बुराई का यत्न करने वाला युग फल प्राप्त करेगा । इसी प्रकार कोई डाकटर किसी रोगी का आपरेषन करे, कदाचित् रोगी की मृत्यु हो जाये ना भी डाकटर की भावना निर्मल है । अतः उसे अहिंसा का फल प्राप्त होगा ।

अनेक नयों से हिंसा का स्वरूप समझ कर त्यागना—

अवबुध्य हिंस्थहिंसकृत्सिद्धिमाफ्नोति तत्रयेन ।

नित्यमवगृह्णानैर्निजशक्त्या त्यज्यतां हिंसा ॥ ६० ॥

सब में तत्पर पुरुष का हिंसा—जिनकी हिंसा की जावे, ऐसे अपने या पर जीव के द्रव्य प्राण और भाव प्राण अथवा एकेन्द्रियादि जीव, हिंसक हिंसा करने वाला जीव; हिंसा प्राणसीदन या प्राणघात की क्रिया और हिंसाफल—हिंसा से प्राप्त होने वाले नरक निगोदादि फलों को विचार कर अपने शक्त्यानुसार हिंसा का त्याग करना चाहिये ।

असत्यादि हिंसा रूप होने से त्याज्य हैं—

आत्मपरिणामहिसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत् ।

अनृतवचनादिकेवलमुदाहृत शिष्यबोधाय ॥ ४२ ॥

आत्मा के शुद्धोपयोगरूप परिणामों के घातक होने से असत्य, चोरी आदि हिंसा रूप हैं । शिष्यों को समझाने के लिए इनका विशेष वर्णन किया गया है ।

हिंसा की पर्यायें—

अभिमानभयजुगुप्साहास्यारतिशोककामकोपाद्याः ।

हिंसायाः पर्यायाः सर्वेऽपि च सरकसन्निहिताः ॥ ६४ ॥

अभिमान, भय, रजानि, हास्य, रति, अरति, शोक, काम, क्रोध आदि हिंसा के पर्याय वा भेद हैं । और ये सभी भाव व्यसन सेवन से उत्पन्न होते हैं ।

मद्य, मास, मधु, नवनीत और पचोदम्बर फलमत्स्य में जसजीवों को हिंसा होती है, अतएव

इनके मरन का त्याग करना परमावश्यक है। मूले उदर पर पाँच आंगुलियों को नहीं मानना चाहिए आचार्य इसी का उतर देते हैं—

यानि तु पुनर्भवयुः प्राज्ञाद्भिर्मात्रमाणि शुद्धणि ।

भजतस्ता यपि हिंसा विशिष्टरागादिरूपा स्यात् ॥ ७३ ॥

मुलाकर पाँच उदर पर पाँच के भक्षण करने से रोग को प्रतिष्ठा करने के कारण हिंसा होती है। तात्विक यह है कि अहिंसा-पणियों को प्रयत्न रहना मरना और पाप पान भा अहिंसक ही रहना चाहिए।

गृहस्थ के लिए त्याज्य हिंसा—

धर्ममहिंमारूप मशृण्वतोपि ये परित्यक्तुम् ।

भ्यावरहिंसामसहस्रमहिंसा तऽपि मुञ्चतु ॥ ७४ ॥

स्तोकैरेन्द्रियघाताद्गृहिणा सम्बन्धयोग्यविषयाणाम् ।

शेषस्थावरमारणभिरमणमपि भजति करणायम् ॥ ७५ ॥

जो गृहस्थ स्थावर हिंसा का त्याग करने में असमर्थ है, उन्हें व्रत हिंसा का अवश्य त्याग करना चाहिए। स्थावर हिंसा में भी अन्न एके व्रत पात के अतिरिक्त अन्योप-स्ववर जीवों की हिंसा का भी त्याग करना योग्य है।

धर्म के नाम पर होने वाली हिंसा का त्याग—

सूक्ष्मो भगवद्भर्मा धर्माथ हिंसेने न दोषोऽस्ति ।

इति धर्ममुग्रहद्वयेन तातु भूत्वा शरारिणो हिंसया ॥ ७६ ॥

भगवान् द्वारा निरूपित धर्म बहुत सूक्ष्म है, अतएव धर्म के निमित्त से हिंसा करने में कोई दोष नहीं है, यह मानना गलत है; क्योंकि हिंसा कभी धर्म नहीं हो सकती है।

देवता के लिए हिंसा करना भी पाप है—

धर्मो हि देवताभ्यः प्रभवति साध्यः प्रदेयमिह सर्वम् ।

इति दुर्विचक्रकजिता धिपणा न प्राप्य इहिनो हिंसया ॥ ७७ ॥

धर्म देवताओं से होता है, अतएव इस लक्ष्म में मांगने को बलि देना उचित है यह मानना भी भ्रान्त है क्योंकि प्राणियों की बलि देने से महान् पाप होता है। देव हिंसा प्रिय नहीं होते। हिंसा से कभी भी पुण्य या धर्म नहीं हो सकता है।

अतिथि के लिए हिंसा करना अनुचित है—

पूयनिमित्तं घाते ह्यगादानां न कोऽपि दोषोऽस्ति ।

इति सप्रचार्यं कायः तातिथये सत्त्वसत्त्वपनम् ॥ ७८ ॥

पुत्र पुत्रों के लिए बकरा आदि जीवों का पान भी नहीं करना चाहिए क्योंकि अष्ट पुण्य में यह हिंसा का महा पाप समझने है।

कोई-कोई कहते हैं कि शाक तथा अन्न के भक्षण करने की अपेक्षा एक जीव का मांस भक्षण करने में अल्प पाप है; क्योंकि जीव जीव समान है। अतएव अनेक एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा न कर एक त्रसजीव का घात करना ज्यादा अच्छा है। आचार्य इसी शंका का समाधान करते हैं।

बहुसत्त्वघातजनितादशनाद्वरमेकसत्त्वघातोत्थम् ।

इत्याकलय्य कार्यं न महासत्त्वस्य हिंसनं जातु ॥ ८२ ॥

बहु प्राणियों के घात से उत्पन्न हुए भोजन से एक जीव के घात से उत्पन्न हुआ भोजन अच्छा है, यह मानना मिथ्या है। अतः विचारशील व्यक्तियों को हिंसा नहीं करनी चाहिए। कारण स्पष्ट है कि अन्तरंग ज्ञान प्राण और बाह्य शारीरिक प्राणों के घात की अपेक्षा एकेन्द्रिय की हिंसा से दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय आदि की हिंसा में असंख्यात गुणा पाप और निर्दयता है।

दुष्ट जीव को मारने में हिंसा—

रक्षा भवति बहूनामेकस्येवास्य जीवहरणेन ।

इति मत्वा कर्त्तव्यं न हिंसनं हिंससत्त्वानाम् ॥ ८३ ॥

सर्प, बिच्छू, बिह, व्याघ्र आदि हिंसक जीवों की भी इस अभिप्राय से हिंसा नहीं करनी चाहिये कि इन दुष्ट जीवों के मर जाने से सहेलो की रक्षा होगी, क्योंकि जो हिंसा करता है, वही उसके पाप का भागी होता है। अतः किसी भी प्राणी की हिंसा करके व्यर्थ पाप का अर्जन नहीं करना चाहिए।

बहुसत्त्वघातिनोऽमी जीवन्त उपाज्यन्ति गुरु पापम् ।

इत्यनुकम्पा कृत्वा न हिंसनीयाः शरीरिणो हिंसाः ॥ ८४ ॥

बहु घातो जीव जीते रहेंगे तो अधिक पाप करेंगे, ऐसा सोचकर हिंसक जीवों की हिंसा नहीं करना चाहिये।

दुःखी जीव को मारना भी पाप है—

बहुदुःखासङ्गपिताः प्रयान्ति त्वचिरेण दुःखविच्छित्तिम् ।

इति वासनाकृपाणीमादाय न दुःखिनोऽपि हन्तव्याः ॥ ८५ ॥

रोग अथवा दारिद्र्य आदि पीडित दुःखी जीवों की हिंसा भी इस अभिप्राय से नहीं करनी चाहिये, कि घात करने से ये दुःख में छूट जायेंगे। क्योंकि शरीर त्याग करने में कोई भी जीव दुःख से छुटकारा नहीं पा सकता है। बह्नि सक्लिष्ट परिणामो मे मृत्यु होने पर अधिक पाप का बन्ध होता है तथा मारने वाले को भी पाप बन्ध होता है।

अगले जन्म में सुख प्राप्त होगा, इस उद्देश्य से सुखी को भी नहीं मारना

कृच्छ्रेण सुखवाप्तिर्भवन्ति सुखिनो हताः सुखिन एव ।

इति तर्कमण्डलाग्रः सुखिना घाताय नादेयः ॥ ८६ ॥

मुक्त की प्राप्ति कष्ट से होती है इसलिए मारे हुए मुक्तों की व मुक्तों ही होगे इस मुक्त का श्राप लेकर मुक्तियों का घात नहीं करना चाहिये ।

समाधिस्थ की हिंसा करना भी वर्जित है—

उपलब्धिमुगतिसाधनसमाधिसारस्य भूयसोऽभ्यासात् ।

स्वगुतो शिष्येण शिरो न क्तनीयं सुषममभिज्ञापिता ॥ ८७ ॥

कल्प धर्म के अभिज्ञानी शिष्य द्वारा अधिक श्रमाग से ज्ञान और मुक्ति प्राप्त करने में कारण समाधि प्राप्त करनेवाले गुरु का शिरच्छेदन नहीं करना चाहिये क्योंकि शिर छेदन करनेवाला प्राणयोद्धा जनिव हिंसा का भागी होगा ।

हिंसा करने से कदाचित् सुख प्राप्त हो तो भी हिंसा त्पाज्य है—

अमृतत्वदतुभूत परममहिंसारसायनं क-ध्वा ।

अवलोक्य पालिशानामसमञ्जसमाकुलन भवितव्यम् ॥ ७८ ॥

किसी जीव को हिंसा करते हुए सुख याता पुन देखकर और प्राणको अहिंसा धर्म गलते हुए भी दुःखी जानकर अथवा श्रापही अहिंसा धर्म साधने देन तथा श्राप मिट्वाहमियों को हिंसा में धम डारते हुए व पुष्प करते हुए देखकर धर्मात्मा पुरुषों को विवर्जित न जाना चाहिये । अहिंसा ही जीव के लिए समस्त मुक्तों को देनेवाली है ।

आशाघर—

पण्डित प्रवर आशाघर जा ने अपने अनागर और सागर धर्मागत में मुनि और धावक दोनों को श्रेयदा से अहिंसा धर्म का विवृत विवेचन किया है । अपने भी प्रमाद के उद्भव से होनेवाले प्राणघात के त्याग पर आर भिया है ।

हिंसा की परिभाषा और न्ययस्था—

सा हिंसा व्यपरोप्यते यत् प्रस स्यावरङ्गिनाम् ।

प्रमत्तयोगत प्राणा द्रव्यमायश्चमायका ॥

रागाद्यसङ्गत प्राण्यपरोपेऽप्यहिंसक ।

स्यात्तदपरोपेऽपि हिंस्रो रागादिसंभित ॥—धना० धमा० अ० ३ रको० २२ २३

प्रमत्तयोग त प्रस और स्यावर चीरो के तथा अमर द्रव्य और भाव प्राणों का, जो अस्वस्वण होता है, उसका हिंसा करते हैं ।

यदि जीव राग द्वेष मोह रूप परिधामो से मुक्त नहीं है तो प्राणघात हो जाने पर भी अहिंसक है । राग द्वेषादि से मुक्त होने पर प्राणघात न होने पर भी हिंसक होता है ।

परं जिनागमस्येदं रक्ष्यमवधायताम् ।

हिंसारागपुत्रत्तिहिंसा तदनुदमय ।—धनागर अ० ३ रको० २१

अहिंसासंग्रह की परिभाषा—

जिनागम का यही रहस्य या चार हैं कि गग-द्वेष, मह न्य पश्यामो का उत्पन्न होना हिंसा है और इनका उत्पन्न न होने देना अहिंसा है ।

अहिंसासंग्रह की परिभाषा—

शान्ताद्यष्टकपायस्य सकल्पैर्नैवभिन्त्रसान् ।

अहिंसतो द्यार्द्रम्य स्यादहिंसेत्यसंग्रहम् ॥—सागर अ० ४ श्लो० ७

अनन्तानुन्वी और अपत्यागान कोष, मान, माया और लोभ के शान्त—उपशम होने पर मन, वचन, काय और कृत, कर्मात् अनुमोदना ने जिस दयालु ने त्रम जीव की हिंसा का त्याग कर दिया है, उसके अहिंसासंग्रह होना है ।

हिंसा के चार भेद करके आशाघरजी ग्रन्थ में संकली हिंसा का त्याग कराते हैं ।

संकली, उद्योगी, आरम्भी और विरोधी, ये चार हिंसा के भेद हैं । बिना अरराध के जानबूझ कर किसी की हिंसा करना संकली, जीवन निर्वाह के लिए व्यापार, खेती आदि में होनेवाली हिंसा उद्योगी; साधनानी रखते हुए भी भोजन बनाने, पानी भरने आदि में होनेवाली हिंसा आरम्भी और अग्नी या दूधने की रक्षा के लिए जो हिंसा करनी पड़नी है, वह विरोधी कहलाती है । आशाघरजी ने प्रधानत आरम्भी और अनारम्भी ये दो हिंसा के भेद किये हैं ।

इम सत्त्वं हिनस्तीति हिन्धि हिन्ध्येष साध्विमम् ।

हिनस्तीति वदन्नाभिसन्द्ध्यान्मनसा गिरा ॥

वर्तेत न जीवबंधे करादिना दृष्टिमुष्टिसन्धाने ।

न च वर्तयेत्पर तत् परे नखच्छोटिकादि न च रचयेत् ॥

—सागर अ० ४ श्लो० ८-९

इस जीव को मैं मारूँगा, हमे तुम मारो, इसने हमे मारा अच्छा किया आदि का मन, वचन और काय ने त्याग करना चाहिये । मन्त्र, रस्ती आदि के द्वारा भी प्राणियों का वचन नहीं करना चाहिये तथा प्राणियों के नखादि के काटने की क्रिया भी नहीं करनी चाहिये ।

अहिंसक के लिए आवश्यक व्यवहार—

इत्यनारम्भजां जह्याद्विषासारम्भजां प्रति ।

व्यर्थस्थावरहिंसावद्यतनामावहेद्गृही ॥—सागर अ० ४ श्लो० १०

आसन, शय्या, खान-पान आदि सम्बन्धी हिंसा का उचित त्याग करना चाहिये । आरम्भ-जनित कार्यों में भी व्यर्थ स्थावर जीवों की हिंसा नहीं करनी चाहिये ।

सन्तोषपोषतो यः स्यादल्पारम्भपरिग्रहः ।

भावशुद्धयेकसर्गोऽसावाहिंसासंग्रह भजेत् ॥—सागर अ० ४ श्लो० १४

अहिंसक को सत्तापूर्वक अल्प आत्म और अल्प परिग्रह रखना चाहिये, क्योंकि अधिक आराम और अधिक पारस्य दिशा का कारण है। मनकी शुद्धि रखना तथा सदा आत्त और शीघ्र पानों से अपनी रक्षा करना आवश्यक है।

अहिंसाश्रम के स्वीकार की विधि—

हिंस्यहिंसकहिंसा तत्तनायाज्ञोच्य तत्तवत ।

हिंसा तयोक्तेन यथा प्रतिनामङ्गमानुयात् ॥

प्रमत्तो हिंसको हिंसया द्रव्यमात्रम्भारका ।

प्राणास्तद्विन्द्रदा हिंसा तत्फल पापसचय ।—सागर अ० ४ श्लो० २ २१

हिंसा, हिंसक, हिंस्य और हिंसा पल का पूरा विचार करके अहिंसाश्रम को स्वीकार करना चाहिए। प्रमादी होना हिंसक है द्रव्य भाव प्राणों का धारी प्राणों हिंस्य और प्राणों का पात करना हिंसा है तथा हिंसा का फल पापसचय करना है।

अहिंसाश्रम की निर्मलता के लिए विधेय—

कपायविकथानिद्राप्रणयाक्षुचिनिप्रहात् ।

नित्योदया दया क्रियात् पापवातरन्निप्रभाम् ॥

अहिंसाश्रमतरक्षार्थं मूलश्रमत्रिशुद्धये ।

नक्तं मुक्तिं चतुष्पादपि सदा धारस्त्रिमास्यजेत् ॥—सागर अ० ४ श्लो० २२, २४

अहिंसाश्रम को निर्मल करने के लिए कपाय, विकल्प, निद्रा, शौच, रात्रिभोजन एवं सदा ममता का त्याग करना आवश्यक है।

शुभमन्द्राचार्य—

पञ्चमहाश्रमो न निरुपगु मे आचार्य शु । उद्देश्ये ते अहिंसा धन का निरवृत्त विवेचन क्रिया है। ज्ञानाचार्य में अहिंसा का स्वरूप और उसकी महत्ता पर पूरा प्रकार बाला गया है।

अहिंसा की परिभाषा—

पारुषिचतनुभियश्च त स्वन्नऽपि प्रवृत्तते ।

परस्विराद्भिर्ना घातहादाश्च तत्रमारितम् ॥—ज्ञानार्थव रंग ८ श्लो० ८

मन वचन और कर्म से प्रथ और स्वपर जीवों के पतन का उद्योग के लिए त्याग करना अहिंसाश्रम है।

प्रमाद से हिंसा होती है, प्राणघात से नहीं—

मृते वा जीविते वा स्यान्मनुषाते प्रमादिनाम् ।

बन्ध पथ त पथ स्याद्विमाया मृतनात्मनाम् ॥—सागर अ० ८ श्लो १

जीवों के करने या जीने प्रवृत्ति प्रकृति को नरक ही है। तब ही पापकर्म तथा है और जो सब गति अप्रमत्तों से, उनमें जीवों को हिंसा होने गुण ही हिंसा नरक का कर्म नहीं होता।

हिंसा के शब्द—

सरस्मादित्रिक शोभैः कद, येवर्षात्तत प्रजाय ।

शतमष्टाधिकं जेय त्रिमाशेषेस्तु विरिडवम् ॥—जा० म० ८ श्लो० १०

नरक, समान्य और नरक ही पाप, नरक, पाप ही हीन-हीन प्रवृत्तियों से तथा क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कर्माणों से हुए हुए, पाप, प्रवृत्तियों से क्रम से गुणा करने पर हिंसा के १०८ भेद होते हैं। अनन्तानुसारी, अप्रमत्त, प्रवृत्तियों और अनन्त कर्माणों से उत्तरेत्तर गुणा करने पर ४-२ भेद भी हिंसा के होते हैं।

अत प्रमादमुच्छ्वभ भावशुद्धाङ्गिन्वन्ततिम् ।

यमप्रशममिदृशयर्थं यन्धुबुद्धया विनोक्तय ॥—जा० म० ८ श्लो० ११

उपर्युक्त सरसादि हिंसा परिणामों के १०८ या ४०० भेद हैं। आ प्रत्येक व्यक्ति का प्रमाद का त्याग कर भावशुद्धि के लिए उमत्त नरक प्रवृत्तियों से नन्धुवत् देखना चाहिये।

हिंसा सदा दुःखदायक है—

सौत्यार्थं दुःखमन्तान मङ्गलार्थेऽयमङ्गलम् ।

जोचितार्थं ध्रुव मृत्युं कृवा हिंसा प्रवृत्ति ॥—जा० म० ८ श्लो० २२

सुख के लिए ही मर्त्य हिंसा दुःख-परिणाम करती है, मंगलार्थ ही हुई हिंसा प्रमङ्गल करती है तथा जीवनार्थ ही हुई हिंसा मृत्यु को प्राप्त करती है। उमत्त को निश्चय समझना चाहिये।

चरमन्त्रोपधाना वा हेतोरन्यथ वा क्वचित् ।

कृवा सती नरेहिंसा पातयत्यविलम्बितम् ॥—जा० म० ८ श्लो० २७

देवता की पूजा के लिए रचे हुए नैवेद्य तथा मन्त्र और श्रौच के निमित्त त्रयवा अन्य किसी भी कार्य के लिए ही हुई जीवों की हिंसा जीवों को नरक ले जाती है।

अहिंसा की महिमा—

अहिंसैव जगन्माताऽहिंसेवानन्दप्रद्वृत्तिः ।

अहिंसैव गतिः साधनी श्रीरहिंसैव शाश्वती ॥

अहिंसैव शिवं सूते दत्ते च त्रिविधधियं ।

अहिंसैव हित कुर्यात् व्यसनानि निरस्यति ॥—जा० म० ८ श्लो० ३२-३३

अहिंसा जगत् की माता है, क्योंकि समस्त जीवों का प्रतिपालन करनेवाली है। अहिंसा ही आनन्द ही सन्तति है, अहिंसा ही उत्तम गति एवं शाश्वती लक्ष्मी है। जगत् में जितने उत्तम गुण हैं, सब अहिंसा में ही निवास करते हैं।

प्रदिशा ही मांघ स्वयं आदि क पैमान को देती है और अहिंसा ही आत्मा का हित करती है तथा समान कष्टरूप आपदाओं को गन्त करती है।

जैनाचार्यों ने प्रदिशा पर पश्यात निश्चारपूर्वक लिखा है। उनका मत है कि प्रात्मा की चैतन्य शक्ति की अवेद्या एन्द्रिय मे पञ्चेन्द्रिय पर्यन्त वास्तुनि जल, वायु आग, पृथ्वी कीट मकोड़े, चींटी, मकड़ी, पशु, पक्षी, मनुष्य आदि सभी ज्ञान समाग आत्मशक्त्याले हैं। अतः सब आरक्ष में भाई भाई हैं, ऐसी अवस्था में हिंसा भी ज्ञान का बंध करण आत्मा के समान महा पापबन्ध का कारण है। भूत जन्तुना चारी करना, कुशाज सन करना और अतिक्रमण करना हिंसा है। अहिंसक क लिये प्रती मग, वचन और काय की समस्त मशुक्तियों को शुद्ध रचना अन्वयक है। राग, द्वेष क्रोध, मान, माया, लोभ, विषय कषाय आदि सभी हिंसा के रूपान्तर है। प्रदिशा का विचारों को शुद्ध रचने क लिए स्नाद्वार विद्या का आश्रय लेना भी आवश्यक है तथा आहार विहार का भी पूरा शुद्ध बचाना रचना पड़ता है। मद्य, मीठ मनु का त्याग, अभक्ष्य भक्षण का त्याग, रात्र भोजन का त्याग, विना छुने जल का त्याग अमायादित भाग का त्याग भी अहिंसक का करना चाहिये। समस्त प्राणियों क प्रति दयलु हाग, समताभाव रखना, ईर्ष्या उष्यादि का त्याग कर निरापेक्ष की भावना को अरानना प्रत्येक अहिंसक का परम कर्तव्य है।



प्रमुख दि० जैनाचार्यों का विवरण

यह विवरण हमें पूज्य आचार्यश्री महावीरकान्तिजी के एक गुटके में लिखा मिला है। इतिहास के परिज्ञान के लिए आचार्यों की वशावली, उनका दीक्षाकाल, उनका समय परिज्ञान कितना महत्वपूर्ण होना है, यह सभी इतिहास विशारद जानते हैं। अमीनक दि० जैनाचार्यों की पट्टावलियों और वशावलियों का अन्वेषण ऐतिहासिक दृष्टि से दुःख ही नहीं है। इस दिशा में प्रयास करने की अत्यन्त आवश्यकता है। इस्सलिखित ग्रन्थों की प्रशस्तियों के दो तीन संग्रह भी दिग्गजर सम्प्रदाय में प्रकाशित हो चुके हैं तथा इतिहासविज्ञ प्रेमीजी और सुरतार सा० के कई निगन्ध संग्रह में प्रकाशित हैं। शिलालेखों के संग्रह भी प्रकाशित हो चुके हैं। अतः इस सामग्री के आधार पर तथा नवीन अन्वेषणों के आधार पर दिग्गजर जैनाचार्यों का एक प्रामाणिक इतिहास लिखे जाने की बड़ी भारी आवश्यकता है। साधन सामग्री इस समय वर्तमान है। आजका समय इतिहास लिखने के लिए बहुत उपयोगी है। सभी प्रकार के संभव साधन सामने प्रस्तुत हैं। अधिकांश हमारा साहित्य मुद्रित त्रवस्था विद्यमान है। अतएव इतिहासविज्ञों को इस ओर शीघ्र प्रयास करना चाहिए। यों तो 'दि० जैन साहित्य' का इतिहास भी वर्षों दि० जैन ग्रन्थमाला काशी के तत्त्वावधान में समाज के तत्त्वप्रतिष्ठ विद्वानों द्वारा तैयार हो रहा है। आरम्भ में तो इतिहास की चर्चा पर्याप्त थी, पर इधर लगभग एक वर्ष से वह चर्चा शान्त ही मालूम हो रही है। उस दिशा में कार्य शीघ्र होना चाहिए। समाज के धनिक धीमानों को इस आवश्यक और उपयोगी कार्य के लिए सुकहस्त से दान देना चाहिए। वर्णाग्रन्थमाला के अधिकारियों को भी इस ओर अधिक नै अधिक प्रयत्न करने की आवश्यकता है। दि० जैन साहित्य और उसके निर्माताओं के इतिहास की अत्यन्त आवश्यकता है। बड़े से बड़े दि० आचार्य का प्रामाणिक जीवनवृत्त ऐतिहासिक ढंग से प्रामाणिक लिखा ही नहीं गया है। अतएव इस ओर समाज का ध्यान शीघ्र ही आकृष्ट होना चाहिए।

प्रस्तुत विवरण में आचार्यों का सवत्, दीक्षातिथि, जति, रहस्य वर्ष, दीक्षा वर्ष, पट्ट वर्ष, अन्तर दिन और सर्व वर्षायु दी जा रही है। इन विवरणों में कहीं तक प्रामाणिकता है, यह तो इतिहास मनीषी ही जान सकेंगे। यदि कोई ऐतिहासिक विद्वान् आचार्यों के इन विवरणों में संशोधन प्रस्तुत करेंगे, तो भास्कर उसका भी स्वागत करेगा। अतः इस विषय पर अधिक प्रकाश डालने की आवश्यकता है, जिसमें इतिहास के निर्माण के लिए प्रामाणिकता प्रस्तुत की जा सके।

| नं० | संख्य | तिथि | आचार्य नाम | जाति | गृहस्थ वय | दीया वय | पटवय | अंतर दिन | सव वषाणु |
|-----|-------|----------------|------------------|------------------|-----------|----------|-----------|----------|-----------|
| १ | ४ | जैत्रशुदी १४ | श्री भद्रबाहु | पवाररजपूत | २४ | ३ | २२ १० २७ | ३ | ७६ ११० |
| २ | २६ | पाशुपुनसुदी १४ | गुप्तगुप्तिसिंधी | वैशार | २२ | ३४ | ६ ६ २५ | ५ | ६५ ७-० |
| ३ | ३६ | आश्विनसुदी १४ | श्री माधव शी | जैनवाल | २० | ४४ | ४ ४ २६ | ४ | ६८ ५० |
| ४ | ४० | पाशुपुनसुदी १४ | श्री जिनचंद्र | चोडरवा पोखाड | २४ ६० | ३ | ८ ६ ६ | ३ | ६५ ६ ६ |
| ५ | ४६ | पौषवनी ६ | श्री कुटुंब | पल्नीवाल | ११ | ५१ १० १० | ० | ५ | ६५ १० १५ |
| ६ | ११ | का० सु० ८ | उमा स्वामी | अयोध्यापुरी भावक | १६ | २५ | ४ ८ १ | ५ | ८४ ८ ६ |
| ७ | १४२ | आषाढ सु० १४ | लोहाचार्य | लभेचू | २१ | ३८ | १० १० २७ | ६ | ६६ १० २६ |
| ८ | १४३ | ज्येष्ठ सु० १० | यशकौति | जैनवाल | १२ | २१ | ५ ८ १० | ५ | ६१ ८ १५ |
| ९ | २११ | वा० व १० | यशोवर्द्धि | जैनवाल | १६ | १७ | ४ ६ ४ ६ | ४ | ७६ ४ १३ |
| १० | २४८ | आषाढ सु० ८ | देवनदी | पोखाल | १० ५ | १५ १७० | ४ ६ १० २८ | ४ | ७५ ११ २ |
| ११ | १०८ | -ज्येष्ठ सु० १ | श्री पूष्यगद | पद्मावती पारवाल | १५ | ११ ७० | ४ ४ ११ २२ | ७ | ७१ ६ २६ |
| १२ | १५३ | -ज्येष्ठ सु० ६ | गुणनदि | गाला पूरय | १४ | १५ ५० | १३ ३ १ | ४ | ४ ८ १ |
| १३ | ३६४ | मा० सु० १४ | जम्भूरुग्धि | X | १६ | ११ ३ | २२ ५ ३ | ४ | ५७ ८ ५ |
| १४ | ३८६ | पाशुपुन ४ | कुमारनदि | घशालवाल | १६ | १० २ | ४ ० २ २० | ६ | ६६ ४ २६ |
| १५ | ४२० | ज्येष्ठ व ३ | लोकचंद्र | लभेचू | १८ | १६ | २ ६ ३ १ ६ | १ | ६० ३ २ ६ |
| १६ | ४५३ | मा सु० १४ | श्री प्रभाचंद्र | पचम भावक | ६ | २४ | २ ५ १ १ ५ | १६ | ५ ८ ५ २ ६ |
| १७ | ४०८ | पाशुपुनसु १० | श्री नैमिचंद्र | नैगम भावक | १ | २२ | ८ ६ १ | ६ | ४० ६ १० |

| नं० | संवत् | तिथि | आचार्य/नाम | जाति | गृहस्थ वर्ष | द्वीया वर्ष | पट्ट वर्ष | अन्तरदिन | सर्ववर्षासु |
|-----|-------|-------------|-----------------|-----------------|-------------|-------------|-----------|----------|-------------|
| १८ | ४८७ | पौष वदही ५ | भानुनन्दि | ईसर | ११ | १५ | २१-७-२४ | १२ | ४६-१-६ |
| १९ | ५०८ | मानु सु० ११ | हरिनन्दि | श्री० मालसीरामा | ६ | १५ | १६-१७-१५ | १४ | ५०-७-२६ |
| २० | ५२५ | आसोज सु० १० | वसुनन्दि | नवनौरा | १० | ३० | ६-२-२२ | ६ | ४६-३-१ |
| २१ | ५३१ | पौष सु० ११ | श्री धीरनन्दि | लभंचू | ६ | १३ | ३०००-१४ | १० | ५२-०-२४ |
| २२ | ५६१ | माघ सु० ५ | श्री रतनकीर्ति | अमनाल | ८ | १२ | ०३-४-७ | ११ | ४३-५-१८ |
| २३ | ५८५ | आषाढ व० ८ | ,, माणिस्यनन्दि | अप्राल | १० | १६ | १६-५-१० | १५ | ४५-५-२५ |
| २४ | ६०१ | पौष व० ३ | ,, गेपचन्द्र | खंडेलाल | २४-३-३६ | ६-७-१३ | २५-५-३० | १२ | ५६-६-२ |
| २५ | ६२७ | आसोज व० ५ | ,, शान्तितीर्ति | सदलवाल | ७ | १० | १५-०-७५ | २० | ३२-१-१५ |
| २६ | ६४२ | श्रा० सु० ५ | ,, गेसकीर्ति | सदलवाल | ८ | ११ | ४४-३-१६ | १३ | ६३-२-२६ |
| २७ | ६८६ | मगसिर सु० ४ | ,, मगसिर्ति | सरलवाल | ६ | १२ | १७-११-५ | १५ | ३५-११-२० |
| २८ | ७०४ | मगसिर व० ६ | ,, विजयनन्दि | वागडा | ७ | १४ | १२-४-० | १५ | ४२-४-१५ |
| २९ | ७२६ | चैत्र पु | ,, भूपुण्य | सदलवाल | १५ | ८ | ६ | २६ | ३१-०-२६ |
| ३० | ७३५ | वैशा० सु० ५ | ,, चन्द्र | रीमाल | ६ | १२ | १४-३-४ | ११ | ३०-५-५ |
| ३१ | ७४६ | भा० सु० १० | ,, नन्दकीर्ति | नागरही | १५ | २० | १५-६-४ | १३ | ५०-६-१७ |
| ३२ | ७६५ | चै० व० १२ | ,, देशभूषण | श्रीमाल | १८ | २४ | ०-६-६ | ७ | ४२-६-१३ |
| ३३ | ७६५ | आसोज सु० १० | ,, अमन्तकीर्ति | पोरवालशाखा | ११ | १३ | १६-६-२५ | १० | ४३-१०-५ |
| ३४ | ७८१ | श्रावण-सुरी | ,, धर्मनन्दि | नामडा | १३ | १८ | २२-६-२५ | ५ | ५३-१०-० |

| नं० | संवत् | तिथि | आचार्य नाम | जाति | गृहस्थ कथ | जीवा कथ | पटव्य | अंतर दिन | संवत्पाद्यु |
|-----|-------|----------------|-----------------|--------------------|-----------|---------|--------|----------|-------------|
| ३५ | ८०८ | वेष्ट सु० १५ | श्री शीरचन्द्र | वपेरवाल हरणरा | १३ | २५ | १२०४ | ८ | ७००१२ |
| ३६ | ८४० | आश्विन सु० १२ | " रामचन्द्र | पचम भावक | ८ | ११ | १६१०० | ६ | ३११० |
| ३७ | ८४७ | वी सु० ३ | " रामकीर्ति | समैचू | १४ | १६ | २१४२६ | ११ | ४०४७ |
| ३८ | ८७८ | अश्वि सु० १० | " अश्वचन्द्र | अयोध्यापुरी भार्गव | १८ | १० | १७२७ | ४ | ४५११ |
| ३९ | ८९७ | का सु० ११ | " नरचन्द्र | नेमस भार्गव | १५ | २१ | १८९ | ९ | ४४९९ |
| ४० | ९१८ | माघी सु० ५ | " ताम्रचन्द्र | बागडा | २१ | १३ | २२१३ | १० | ६७०१३ |
| ४१ | ९३९ | भाद्रपद सु० ३ | " नकुलचन्द्र | इधर | ८ | १ | ८९११ | ९ | २६९२० |
| ४२ | ९४८ | आषाढ सु० ८ | " रत्नचन्द्र | वपेरकल हरणरा | ८४ | १४८० | २६१८ | ८ | ६९१२५ |
| ४३ | ९७१ | आश्वि सु० ९ | " महीचन्द्र | घाकडा | १४ | १०११ | १६६० | ५ | ४१५१ |
| ४४ | ९९९ | मा सु० १४ | " माधवचन्द्र | पद्मवती वीरवाल | १३ | २ | ३२२४ | ९ | ६५१३ |
| ४५ | १०३३ | वेष्ट सु० २ | " लक्ष्मीचन्द्र | | ११ | २५ | १४५३ | १० | ४९११३ |
| ४६ | ११७ | आशी सु० १ | " सुवर्णचन्द्र | नगौचय ७ | १८ | २ | १०१०२९ | १४ | ४८११३ |
| ४७ | १०४८ | भाद्रपद सु० १४ | " सुवर्णचन्द्र | गोलादूब | १० | २२ | ७८८७ | १० | ४९८१७ |
| ४८ | १०६६ | वेष्ट सु० १ | " लाकचन्द्र | सुलभाल | १५ | ३ | १११३ | ४ | १८३७ |
| ४९ | १००९ | भाद्रपद सु० ८ | " भुतकीर्ति | सवाणु भार्गव | १३ | १३ | १५६६ | ६ | ६०६१२ |
| ५० | ११४ | चैत्र सु० ५ | " भावचन्द्र | | १२ | २५ | २११७ | ५ | ५८०० |
| ५१ | ११११ | चैत्र सु० ५ | " महीचन्द्र | भीमाली | १ | २६ | २५६१० | ५ | ६१४१५ |

श्री बीसतीर्थङ्करों के नाम, चिन्ह व माता, पिता और नगरी के नाम

| नं० | नाम | चिन्ह | पिता के नाम | माता के नाम | नगरी के नाम |
|-----|-----------------|----------|----------------|-------------|-------------|
| १ | श्री सीमधरजी | तृपभ | श्रेयाल | सत्य देवी | पुण्डरीकणी |
| २ | " युगमंथरजी | शश्री | सुहृदरथ | सुतारा | सुसीमा |
| ३ | " बाहुजी | युग | सुनीव | विजया | अयोध्या |
| ४ | " सुवाहुजी | कपिल | निशाटिल | सुनन्ता | अक्षकापुरी |
| ५ | " सजातकजी | सूरज | देवसेम | सेना | विजया |
| ६ | " स्वयंप्रभजी | चन्द्रमा | गिन्गूल | सुमगला | सुसीमा |
| ७ | " नृपभाननजी | हरि | कीरत | वीरसेना | अयोध्या |
| ८ | " अनन्तवीर्यजी | गन्ध | मेन | सुमगला | विजया |
| ९ | " सूर्यप्रभजी | सूर्य | नागराय | भद्रा | पुण्डरीकणी |
| १० | " विशालकीर्तिजी | चन्द्रमा | निजकु राय | विजया | सुसीमा |
| ११ | " वज्रधरजी | शाल | पद्मरथ | सरस्वती | पुण्डरीकणी |
| १२ | " चन्द्राननजी | तृपभ | बाल्मीकि | पद्मावती | मिनीता |
| १३ | " चन्द्रबाहुजी | पद्म | देवनन्दरी | सुरेणुका | विजया |
| १४ | " युज्यमजी | चन्द्रमा | महाबल | महिमा | सुसीमा |
| १५ | " ईश्वरजी | सूर्य | गजसेन | ज्वाला | अयोध्या |
| १६ | " नेमिप्रभुजी | तृपभ | वीरसेन | सेना | पुण्डरीकणी |
| १७ | " वीरसेनजी | ऐरावत | (शुनपाल) भोपाल | सुभानमती | विजया |
| १८ | " महाभद्रजी | चन्द्रमा | देवराज | उमा देवी | सुसीमा |
| १९ | " यशकीर्तिजी | साधिया | श्रवभूत | गया देवी | अयोध्या |
| २० | " अजितवीर्यजी | पद्म | सुयोध | कनका | अयोध्या |

मूलसंघ महारक गुरु नामावली

[श्री अमरच द नाहटा]

जैन इतिहास के अनेकानेक साधनों में पट्टावली, गुर्वावली, स्थिविरावली आदि सहाय्योगाली, आचार्य परम्परा की नामावली व इतिहास को प्रकाशित करनेवाली रचनाओं का अपना विशिष्ट स्थान है। वास्तव में देगा जाय तो जैन इतिहास की यह मूलभूत सामग्री है। क्योंकि भगवान् महावीर के बाद जैन शासन का नेतृत्व उन कुशल आचार्यों के हाथ में ही रहा, जिनका वचन इन रचनाओं में मिलता है। अतः भगवान् महावीर के प्राण कौन कौन आनाय हुए? उनकी गुरु परम्परा क्या रही? वे कब और कहाँ रहे? कहाँ कहाँ विचर कर जैन शासन की क्या सेवा की? किन किन राजाओं पर उनका प्रभाव पड़ा था? उद्दिष्ट किन किन ग्रंथों की रचना की? किन किन को जैन धर्म में प्रतिरोधित किया और उनसे क्या क्या धार्मिक कार्य कराये? कहाँ कहाँ के मन्दिर और मूर्तियों की प्रतिष्ठा की? तीर्थयात्रा की व सप्त निकजवाये, वाणियों की शास्त्रार्थ कर उन्हें पराजित किया? इत्यादि अनेकानेक घटनाएँ इन पट्टावलियों आदि में पायी जाती हैं।

प्राचीन काल के मुनियों का जीवन अध्यात्मपूष्य था, इसलिए वे अपनी प्रसिद्धि तनिक भी नहीं चाहते थे। उन्होंने लोहोकार के लिए बड़े बड़े और मस्त्वपूष्य ग्रंथों का निर्माण किया। पर उनमें से बहुत से ग्रंथों में तो रचयिताओं ने अपना नामोल्लेख तक नहीं किया। परवर्ती कुछ ग्रंथकारों ने अपने नाम का निर्देश मात्र कर दिया पर अपना परिचय कुछ भी नहीं दिया। कई ग्रंथकारों ने तो अपनी रचनाओं को पूर्ववर्ती आचार्यों के नाम पर प्रसिद्ध कर दिया अर्थात् वे इतने निस्वह थे कि उनके उपदेश पूर्वजाचार्यों की परंपरा से प्राप्त हुए हैं, इसलिए हमें अपने नाम बतलाने की आवश्यकता नहीं व पूर्व महर्षि जनता के अधिक भद्रा भाजन हैं। अतः उनके नाम से रचित ग्रंथों का लोकमानस पर अधिक अच्छा प्रभाव पड़ेगा, वर इसीमें उन्होंने रचना के उद्देश्य की सफलता समझी। क्योंकि जिस जनता के लिए उसका निर्माण हुआ है, उनपर उसका अधिक से अधिक प्रमाण पड़े, तो रचना का उद्देश्य सफल हो गया।

त्रयश लोकेपया—नाम और यश की कामना बढ़ती गयी। इसलिए ग्रंथकार अपना परिचय विस्तार से देने लगे इतिहास के लिए तो यह प्रयत्न बहुत लाभकारी सिद्ध हुआ अर्थात् बहुत से प्राचीन ग्रंथों के रचना काल और रचयिता का निर्णय अथ उल्लेखी और अनुमान के आधार से किया जाता है, वह सदिग्ध ही रहता है।

प्राचीन राजाओं और आचार्यों की परम्पराओं का कुछ उल्लेख ग्रंथांतरो में मिलता है। जैसे पुराणों में अनेक राजवंशों की नामावलियों प्राप्त होती हैं। जैसे ही कतिपय जैन ग्रंथों में

भी राजाओं और आचार्यों की वशावली उनके शासन काल के समय के साथ दी हुई मिलती हैं। उदाहरणार्थ जैसे पटखडागम, तिलोय परणत्ति में वीर निर्वाण ६८३ वर्ष तक के आचार्यों का और शक राजाओं के राज्यकाल का उल्लेख प्राप्त होता है। ऐसे ही कई श्वेताम्बर ग्रन्थों में उल्लेख हैं जिनके आधार से जैन काल गणना के सुनिश्चित करने का प्रयत्न मुनि कल्याण विजय जी ने अपने 'वीर निर्वाण संवत् और जैन काल गणना' नामक बृहत् निबन्ध में किया है।

जैसा कि मैंने अपने अन्य लेखों में लिखा है कि ऐतिहासिक साधन दिग्गम्बर समाज की अपेक्षा श्वेताम्बर समाज के अधिक प्राप्त होते हैं। कारण भी स्पष्ट है कि दिग्गम्बर आचार्यों को नम्र आदि रहने से वन एव गुफाओं में ही अधिक रहना पड़ा। फलतः उनका आध्यात्मिक भुक्ताव अधिक रहा। जबकि श्वेताम्बर मुनि नगरों और जन साधारण के सम्पर्क में अधिक आये, क्रमशः वे चैत्यों में निवास करने लगे। राजाओं आदि के सम्पर्क में वे अधिक आये अतः उनका आध्यात्मिक भुक्ताव कम हो जाना स्वाभाविक था।

वीराब्द ६८० में श्वेताम्बर आगम देवर्द्धिगणि ने लिपि बद्ध किये। तब उस समय तक की आचार्य-परम्परा को बताने के लिए स्थविरावलियों का निर्माण हुआ। जिनमें से एक प्राकृत गाथाबद्ध सञ्चित स्थविरावली नन्दीसूत्र में पाई जाती है और दूसरी विस्तृत गद्य स्थविरावली कल्पसूत्र के साथ जोड़ी गई है। इनके आधार से हम वीरनिर्वाण तक की १००० वर्षों तक भी अनेक इतिहास की कड़ियों को व्यवस्थित कर सकते हैं। नन्दीसूत्र की स्थविरावली में तो केवल आचार्य परम्परा के नाम देकर उनका गुणोत्कीर्तन किया है पर कल्पसूत्र की स्थविरावली में उन आचार्यों के अनेक शिष्यों के नाम और उनके द्वारा प्रसिद्धि में आये कुल, गण और शाखाओं आदि की जानकारी मिल जाती है। मथुरा की कई प्राचीन मूर्तियों के शिलालेखों में जो गणों आदि का उल्लेख है उनका कल्पसूत्र की स्थविरावली में विवरण मिलता है। तीसरी स्थविरावली हेमवत स्थविरावली के नाम से प्रसिद्ध है जो मूलरूप में प्रकाशित होने से पूर्व उसका हिन्दी अनुवाद कल्याण विजय जी ने अपने महानिबन्ध के परिशिष्ट में प्रकाशित कर दिया है। इसके बाद कई शताब्दियों तक कोई स्थविरावली या पट्टावली रची हुई नहीं मिलती। इसीलिए छठी शताब्दी से दशवीं शताब्दी के बीच की आचार्य परम्परादि का जैसा वर्णन चाहिए, नहीं मिलता। १२ वीं शताब्दी में फिर कुछ रचनाएँ रची जानी चालू होती हैं जिनमें गणधर सार्द्धशतक, गणपदसन्तरी आदि उल्लेखनीय हैं। १३ वीं शताब्दी से हम ऐतिहासिक साधनों की प्रचुरता पाने लगते हैं। इस समय पूर्व इतिहास का सकलन और नवीन ऐतिहासिक व्यक्ति सम्बन्धी ग्रन्थों का निर्माण जारी हुआ। प्रबन्ध संग्रह आदि कई ग्रन्थों की परंपरा यहाँ से प्राप्त होने लगती है। हों, संवत् १३३४ में रचित प्रभावक चरित्र में जो कई पूर्वाचार्यों के प्रबन्ध

हैं उनका मूल आधार कई प्राचीन प्रबंध संग्रह हैं जो अब मूला में प्राप्त नहीं हैं। कुछ आचार्यों के प्रबंधों की पाठ्य में ताड़नीय प्रतिभों हैं और अब कई प्रबंधों का संग्रह मुनि जिन विजय जी ने अपने "पुरातन प्रबंध संग्रह" में प्रकाशित किया है। इसमें सं० १२६ में जिनभद्र रचित 'गंगा कानन प्रबंध' आदि का उल्लेख है। १४ वीं शताब्दी से तो अर्द्धशतक पद्यावली का संग्रह है, कुछ विशिष्ट पद्यावली प्राप्त होने लगती हैं। सं० १३५ में रचित पिनरालोकाध्याय की युगप्रधानाचार्य गुरारजी, अद्वितीय ऐतिहासिक प्रबंध है। इसमें अरबी वर्णों का इतिहास ता स्वतन्त्रतम से दिया हुआ है। शायद इस पद्धति से लिखा जानेवाला यह संग्रह प्रथम ऐतिहासिक संग्रह है। इसकी परंपरा पीछे भी चलती रही चलत सं० १८३३ तक का तो स्वतन्त्रतम से लिखा इतिवृत्त हम इस गुर्वावली में पाते हैं। इसके बाद सं० १३४३ का उपदेश गच्छ प्रबंध इस गुरु की गुरु परंपरा का उच्च परिचय हमें देता है। इसके बाद १५ वीं शताब्दी में रचित मुनि मुत्तर सूरि की तपागच्छ गुर्वावली और मरुतुल्ल सूरि की 'अवलगच्छ पद्यावली' प्राप्त होती है। १६ वीं शताब्दी में तो अनेक गुरुओं की पद्यावली संस्कृत और लाक भाषा में लिखित प्राप्त हैं। जिनमें से कुछ का संग्रह खरतर गुरु पद्यावली संग्रह पन्नाली समुदाय भाग १, २ और त्रिविध गुरु पद्यावली संग्रह (मुनिजिन विजय द्वारा संपादित पर अभी अप्रकाशित) में हुआ है। कई पद्यावली का मूल व साररूप में हमने भी प्रकाशित किया है। कई अन्य मुनियों ने भी प्राप्त सामग्री के आधार से नये प्रबंध लिखकर प्रकाशित किये हैं। कुछ पद्यावली का सार 'जैन गुरु कवियां भाग २, ३' के परिशिष्ट में भी प्रकाशित हुआ है।

जहाँ तक दिग्बर पद्यावली का प्रश्न है, प्राचीन विद्वान् पद्यावली तो जानने में नहीं आईं। जैसा कि पहले ज्ञात गया है पद्वयहागम के वेत्ता पण्ड में और तिलोप पण्यत्ति में बर्षात् ६८३ वर्ष तक के पूवघर और अगघर आचार्यों की नामावली प्राप्त मिलती है। उसके पश्चात् आचार्य जिनसेन के हरिवर्ष में वि० सं ८४ तक की अविच्छन्न गुरु परंपरा प्राप्त होती है। बर्षात् ६८३ उष तक के आचार्यों की नामावली के बाद ६२७ वर्षों में हुए २/३ आचार्यों का हममें वषा है। तदनंतर दशन सार में हम कुछ सप्त एव गणों आदि की जानकारी पाते हैं। पर पद्यावली के रूप में लिखा कोई प्राचीन प्रबंध अभी तक देखने में नहीं आया। कुछ फुल्लर सक्षिप्त पद्यावली जानने में आई हैं वे बहुत परवर्ती रचना प्रतीत होती हैं। इसलिए उनमें लिखे हुए प्राचीन आचार्यों के समय आदि सखिष्य ही लगते हैं। उन सब में प्राचीन कौनसी हैं? इसे तो शोध प्रेमी कोई दिग्बर विद्वान् ही बना सकते हैं। इस संग्रह में मेरी जानकारी सीमित होना स्वाभाविक ही है। फिर भी अपने विशाल अध्ययन के लक्ष पर जो थोड़ा बहुत लिख जाता हूँ वह दिग्बर विद्वानों के लिए प्रेरणादायक होना चाँहिये। एक श्वेताम्बर पक्षि बार बार उड़ें अपने ऐतिहासिक साधनों और प्रबंध सुची प्रकाशित करने के लिए

प्रेरणा कर्ता है, फिर भी कोई उल्लेखनीय कदम नहीं उठाया जाता यह अस्पष्ट ही विचारणीय है, दिग्गज समाज में पेशों की कमी नहीं। शान्ति प्रसाद जी जैसे उदार व मुक्त हृदय व्यक्ति ने अनेक कार्यों के लिए जय जिना चाहें पैसा मिला सजता है और विद्वानों की भी दिग्गज समाज में कमी नहीं। आप उनकी सूची बनाने लगेंगे तो सैफ़ों की सगना पट्टन जायगी। फिर भी अभी तक दिग्गज जैन इतिहास के मूल मूल मानों के समग्र ग्रंथ लेखी ने प्रकाशित नहीं हो रहे हैं, यह बहुत ही लज्जा जनक स्थिति है। प्रतिमा लेखों के समग्र को ही देखिये, श्वेताम्बर समाज के पन्द्रह-बीस ग्रंथ बहुत बड़े २ और महत्वपूर्ण प्रकाशित हो चुके हैं। तब दिग्गज समाज में प्रेमी जी की प्रेरणा से प्रकाशित "जैन शिलालेख संग्रह" के दो भाग ही उल्लेखनीय है बाकी की छोटो २ पुस्तकें तो नाम मात्र की हैं। इसी तरह ऐतिहासिक काव्य, गद्य गीत, पट्टावलिर्वा, आदि का कोई संग्रह प्रकाशित नहीं हुआ। केवल दो "अज्ञान समग्र" अस्पष्ट उल्लेखनीय हैं।

जैन तीर्थों की इतिहास सभी सामग्रियों भी दिग्गज विद्वानों की रचित बहुत कम मिलनी है। कुछ सक्षिप्त 'निर्वाण भक्तिर्था' प्राप्त होती हैं, उनका भी सम्यक् होना चाहिये माना कि बड़े-बड़े ऐतिहासिक काव्य, बड़ी २ पट्टावलिर्वा और दिग्गज जैन जातियों की उत्पत्ति के प्राचीन साधन, विशिष्टाचारों और श्रावकों के क्रिये हुए धर्मकृत्यों आदि का प्राचीन पर्याप्त श्वेताम्बर समाज की अपेक्षा कम मिलता है, पर जो कुछ भी सामग्रियाँ हैं, उसको समग्रित कर शीघ्र ही प्रकाश में लाना चाहिये। अन्यथा सामग्रियों के अभाव में जैन इतिहास का लेखन ठीक से हो नहीं सकता। अविष्कार सामग्रियों विखरी हुई है और वह बहुत छोटे २ रूप में है। इसलिए जहाँ तक उनका संग्रह प्रकाशित न हो वहाँ तक उसका उपयोग किया जाना संभव नहीं। कुछ वर्षों पूर्व तो मेरी यह धारणा थी कि दिग्गज भण्डारों में ऐतिहासिक सामग्रियों का ही अभाव है पर अब नागौर आदि के भण्डारों के अवलोकन में यह धारणा बदल चुकी है। वास्तव में जो थोड़ी बहुत सामग्रियाँ हैं, वह भण्डारों के भण्डारों में सुरक्षित है और उनके भण्डारों का सच्चाता से अवलोकन बहुत ही कम किया गया है क्योंकि जब दिग्गज समाज में कविचर बनारसी दास जी के पञ्चात् तेरह पद्य नामक सुधारक पार्थी ने जोर पकड़ा तो भण्डारकीय परम्परा से उसका समर्पण हुआ। भण्डारकीय परम्परा में श्रावकों में विद्वान् कम हुए, क्योंकि वे भी आवश्यकता नहीं थी। उनको धर्म-साधना कराने वाले भण्डारक और उनके शिष्य थे ही। इसी पराश्रित अवस्था के कारण श्वेताम्बर समाज में भी श्रावक-विद्वान् कम हुए। आवश्यकता ही अविष्कार की जननी है। इधर दिग्गज तेरह-पद्य में शास्त्रों का पठन पाठन और समस्त क्रियाकाण्ड श्रावकों को खुद ही करना पड़ा क्योंकि शुद्ध व ऊँचे आचार वाले भण्डारकों की कमी रही और भण्डारकों के क्रियाकाण्ड के वे विरुद्ध थे। अतः उनसे मेल खा नहीं सकता था। धर्म-सरक्षण और साधना का भार स्वयं पर आ पड़ने से श्रावकों को तैयार होना पड़ा। उन्होंने प्राचीन ग्रंथों का अध्ययन कर जन साधारण के लिए गद्य और पद्य में

उनका लोक भाषा में अनुवाद किया और प्राचीन ग्रंथों के आधार से बहुत से मौखिक ग्रंथ भी बनाये। शास्त्रीय ज्ञान में भट्टारकों से टकर लेने के लिए उन्हें बहुत कुछ भ्रम करके आगे बढ़ना पड़ा।

भट्टारकों ने अपनी सामग्री को दूसरों को दिलाने व देने में अनुपारता ही रखी। इधर सुधारक पार्टी में पहिले अधिक धे पर निरोधी होने के कारण उनके लिए उस सामग्री का दर्शन दुलभ-सा था। बीस पची भट्टारक परवरा वालों ने भा अपने गुरुओं के भण्डारों से विशेष लाभ नहीं उठाया। इस तरह वह सामग्री अज्ञात अवस्था में ही पड़ी रही।

इधर जब आने के भट्टारकीय भण्डार की सूची प्रकाश में आई और जयपुर जाने पर उस समूह के कुछ ग्रंथ स्वयं भी देने तो ऐसा लगा कि जहाँ तक इन भट्टारकों के भण्डारों का अवलोकन पूरा करने से नहीं किया जायगा, जैन साहित्य का इतिहास अधूरा ही रहेगा उसके बाद मुनि पुण्य विजय जी आदि के नागौर पधारने के प्रथम से वहा गया और भट्टारक जी से मिलकर उनके भण्डार के अवलोकन की व्यवस्था की तो मरी वह पूरा धारणा और भी बढ़ हो गई। दो दिनों में हमने उस भण्डार को छान डाला। ता उस भण्डार में सैकड़ों ग्रंथ प्रामाण्य ग्रंथ हमारे ज्ञान में आये और कई ग्रंथों की बहुत लम्बी २ लेखन प्रशस्तियाँ देखने को मिली। साथ ही कुछ गुटकों आदि में कई भट्टारकों आदि के संवित ऐतिहासिक गीत भी मिले जिनके रूप में इधर पूरा मुक्त कई भी जानकारी न थी। गुटकाकार समूह प्रतियों का इसमें बहुत उदा समूह है और कई गुटकों में कुछ मूल सप्त के नदी शाखा के बचावकार गण्य की गुरुनामावलि देखने को मिली। समयाभाव से इच्छा होने पर भी उसकी उस समय नकल न कर सका। बीकानेर आकर सूची बनाने के लिए नियुक्त पण्डित जी से उस नामावलि की नकल भजन के लिए जिला गया। और उनसे जो २५ श्लोकों वाली पद्यावली उपलब्ध हुई वह यहाँ प्रकाशित की जा रही है।

भट्टारक जी से वार्तालाप होने पर विदित हुआ कि उनके पास कई रामग्रंथों और बादशाहों से प्राप्त पद्ये परवाने भी हैं। उनके शासन के ग्रंथ कई स्थानों में भी अच्छे ज्ञान भण्डार हैं। इनके पास ग्रंथ विस्तृत पद्यावलियाँ भी होनी चाहिये। पर मैं इस सामग्री को देख नहीं पाया। मरी वह धारणा जरूर बन गई है कि जिस प्रकार श्वेताम्बर समाज में यति की पुस्तकों के पास ऐतिहासिक सामग्री अधिक मिलती है। उसी प्रकार दिगम्बर भट्टारकों के पास भी चाहे थोड़ी ही हा पर कुछ काम की सामग्री है जरूर, जिसका हमारे विद्वान् अलग्गव वृत्ति के कारण कुछ भी लाभ नहीं उठा सके हैं, भट्टारकों से काम लेने के लिए विनय-व्यवहार में कुछ ही होना चाहिये।

'जैन विद्वान्त माह्वर' के प्रथम वध में सन गण्य की एही ही एक संस्कृत वध वद लघु पद्य वणी भाषानुवाद के साथ प्रकाशित हुई थी। ग्रंथ गण्य की भी पद्यावलियाँ मिलती होगी। प्रथम प्रशस्तियों और शिखालेखों के द्वारा उनको संशोधित व प्रामाणिक बनाकर प्रकाशित करना चाहिये।

एक दो पट्टावलियाँ मैंने ऐसी देखी जो विशेष प्राचीन नदी पर उनमें पूर्वाचार्यों के वश, समय आदि का निर्देश किया हुआ था। उसमें से कुछ प्राचीन लेख तो कल्पित से लगे, उनकी जाव अन्य साधनों से भी जानी चाहिए।

यथा जयपुर या उदयपुर के म्यूजिम में मैंने एक दिग्मय शिल्प-भाषाण खण्ड देखा था। जिसमें बहुत सी छोटी २ मूर्तियों उत्कीर्णित थीं और उनके नीचे दि०-आचार्य परम्परा की विस्तृत नामावली खुदी हुई थी। इसी तरह कई दिग्मय भट्टारकों की पाटुकाएँ, मूर्तियाँ आदि भी लेख सहित प्राप्त होती हैं। हमारे रज्ज में भी एक ऐसी पीतल की पाटुका है, जिसमें सोलहवीं शताब्दी के किसी भट्टारक की पाटुका होने का लेख खुदा हुआ है। भट्टारकों के निवास सक्षारादि के स्थानों की पाटुकाओं के लेख भी सम्रहीत करने चाहिए। इससे भी पट्टावलियों को शुद्ध करने में मदद मिलेगी।

पट्टावली:—

श्रीम.नशेपनरनायकवदितांघ्रिः,
 श्रीगुप्तिगुप्त इति विश्रुत नामधेयः ।
 यो भद्रवाहू मुनिपुङ्गवपट्टण्डा,
 सूर्य. स वो दिशतु निन्मल सघवृद्धिम् ॥ १ ॥
 श्रीमूलसधे जनि नन्दिसघस्तस्मिन् वलात्कारगणोतिरन्धः ।
 तत्रावतो पूर्वपदाश वेदी श्रीमाघनदीनरदेववद्यः ॥ २ ॥
 पट्टे तदाधे मुनिमान्यवृत्तौ जिनादिचन्द्रः समभूदतंत्रः ।
 ततो भवत्पचसुनामधामा श्रीपद्मनन्दी मुनिचक्रवर्ती ॥ ३ ॥
 आचार्यः कुन्दकुन्दारयो वक्रग्रीवो महामतिः ।
 एलाचार्यो गृद्धपिच्छ. पद्मनन्दीति तन्यते ॥ ४ ॥
 तत्त्वार्थसूत्रकर्तृ शतप्रकटीकृत सन्मतः ।
 उमास्वामि पदाचार्यो मिथ्यात्वतिमिराशुमान् ॥ ५ ॥
 लोहाचार्यस्ततो जातोजातरूपधरो मरैः ।
 सेवनायः समस्तार्थ विबोधनविशारदः ॥ ६ ॥
 ततः पट्टद्वयी जाता प्राच्य वाच्युपलक्षणात् ।
 तेषा यतीश्वराणास्युर्मांमिनीमानित कृतः ॥ ७ ॥
 यशः कीर्त्तिर्यशोनन्दी देवनन्दी महामतिः ।
 पूज्यपादायरख्ये यो गुणनन्दी गुणाकरः ॥ ८ ॥

विशालकीर्तिर्वरवृत्तमृत्तिन्ततो महात्माश्रुतकीर्तिदेवः ।
 एकान्तराद्युग्रतपो विधाता धाता वसन्मार्गविधे विधाने ॥ २३ ॥
 श्रीधर्मचन्द्रो जनि तस्य पट्टे हस्मीरभूपालसमर्चनीयः ।
 सैद्धान्तिकः सयमसिन्धुचन्द्रः प्रत्यात माहात्म्य कृतावतारः ॥ २४ ॥
 तत्पट्टे जनि रत्नकीर्तिरनघः स्याद्वादविद्यानुधि-
 र्नाना देश विवृत्त शिष्यनिवहः प्रान्यात्रि युग्मोगुरुः ।
 धर्माधर्म कथास्वसक्तधिषण पापप्रभावाघको,
 बालब्रह्मनपः प्रभावरहितः कारुण्य पूर्णाशयः ॥ २५ ॥
 पट्टे श्रीरत्नकीर्तिरनुग्रहतपसः पूज्यपादीय शास्त्र,
 व्याख्या वित्यातकीर्तिगुणगणनिलयः सक्रियसार चंचुः ।
 श्रीमानातन्दधामा प्रतिबुधनुतमानमानसहापिवाद्दो,
 जीयादाचन्द्रतारं नरपतिविदित श्रीप्रभाचन्द्रदेवः ॥ २६ ॥
 हसो ज्ञानभरालिकासमसमाश्लेषप्रभूताद्भुता,
 नन्दः क्रीडतिमानसेति विणदे यस्यानिशासद्वृत ।
 स्याद्वादामृतसिधुवर्द्धनचिवो श्रीमत्प्रभेन्दु प्रभो,
 पट्टे सूरिमतल्लिका स जायतात् श्रीपद्मनन्दीमुनिः ॥ २७ ॥
 महाकृति पुरंदरः प्रशमदग्धरागाकुर ,
 स्फुरत्परमपौरुषः क्षितिरशेषशाम्भार्यविन् ।
 यशोभर मनोहरी कृत समस्त विश्वम्भर ,
 परोपकृतितत्परो जयति पद्मनन्दीश्वरः ॥ २८ ॥
 स्याद्वादामृतसिधुवर्द्धनकरः सौन्यैर्गुणैवल्लभः,
 पट्टे तर्कागम जैनशासन महालक्ष्मप्रतिष्ठोत्सवः ।
 पट्टे श्रीमुनि पद्मनन्दि विदुषः कल्याणलक्ष्मीकरः,
 सोयं श्री शुभचन्द्रदेव मुनियो भव्यैर्जनैर्वदित ॥ २९ ॥
 पट्टे श्री शुभचन्द्रदेवगणिनः श्रीपद्मनन्दीश्वरः,
 स्तवर्कव्याकरणादिग्रन्थकुशले विख्यात कीर्तिर्गणी ।
 श्रीमाश्रीजिनचन्द्रसूरिरभवद्रत्नत्रयालकृतो,
 हेयादेयविचारमार्गचतुरश्चारित्रचूडामणिः ॥ ३० ॥
 प्रकटित जिनमार्गोध्वस्त मोहान्धकारो,
 जितनयपरवादि सप्तभङ्गेद्वेषोः ।

कल्पित कथा समीक्षा

भगवान महावीर स्वामी के अवतार के विषय में श्वेताम्बर और दिगम्बरी में बड़ा ही मत भेद है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय मानता है कि भगवान महावीर स्वामी का गर्भ परिवर्तन हुआ। श्वेताम्बर कल्प सूत्र पृ० १० वें पर बतलाया गया है कि महावीर स्वामी पहले नीच गोत्र के उदय से श्रुपभदत्त ब्राह्मण की देवन्दा ब्राह्मणी के गर्भ में आये थे। फिर इन्द्र ने हरिणगवेषी देव को भेजकर भगवान महावीर स्वामी को ८२ दिन के पीछे देवन्दा के पेट में से निकलवाकर त्रिशला रानी के पेट में रखवा दिया और उठकी गर्भस्था पुत्री को देवन्दा के पेट में रखवा दिया।

श्री महावीर स्वामी के गर्भ में आने के पहले देवन्दा को १४ शुभ स्वप्न देखे थे और ८२ दिन के पीछे त्रिशला रानी के पेट में पहुँचने के पहिले वैसे ही १४ शुभ स्वप्न त्रिशला रानी को भी दिखलाई दिये। इस प्रकार भगवान महावीर स्वामी का गर्भ परिवर्तन होना श्वेताम्बर ग्रन्थों में माना गया है जिसमें ने कुछ छोड़कर श्री अग्रचंद्रजी नाहटा ने कल्पसूत्र के आधार पर "जैनसिद्धान्त भास्कर" भाग २० क्रि.पू १ जून सन् १८५३ पृष्ठ ३६ वें पर लेख प्रकट किया है परन्तु ऐसी असम्भव बात को एक दम से मान लेना विद्वानों का काम नहीं है। इसलिये इसे युक्ति की कर्षाटी पर कसकर पाठकों के सम्मुख रखते हैं। ऐसा असम्भव लेख बिना टीका—टिप्पणी के प्रकट कर देना खटमता है। इसलिये सुनासावार यह लेख भेजा जा रहा है।

१ क्या इन्द्र में गर्भ बदलने की शक्ति है? यदि है तो जिस प्रकार त्रिशलारानी को गर्भस्था पुत्री को देवन्दा के गर्भ में और देवन्दा के गर्भस्था पुत्र को (महावीर स्वामी को) त्रिशला रानी के पेट में पहुँचाया, उसी प्रकार १६ वें तीर्थंकर जिसको श्वेताम्बर मत में स्त्री के रूप में माना गया है उस मल्लिनाथ तीर्थंकर को किसी लड़केवाली स्त्री के पेट से निकाल कर मल्लिनाथ की माता के पेट में पहुँचाता और मल्लिनाथ की माता के पेटवाली लड़की को उस स्त्री के गर्भ में पहुँचाता जिससे १६ वें तीर्थंकर को किसी प्रकार का दोष न लगता, परन्तु इन्द्र ऐसा न कर सका क्योंकि बात असम्भव थी। अतः महावीर स्वामी के गर्भ हरणवाली बात मिथ्या है।

२ इन्द्र ने भी परिश्रम उठाकर क्या किया श्वेताम्बर ग्रन्थों के कथनानुसार महावीर स्वामी की आत्मा का शरीर ब्राह्मण के वीर्य तथा ब्राह्मणी के रज से बन गया। अब उस बने हुए तथा ८२ दिन बाद ब्राह्मणी के रज रक्त से वृद्धि पाये हुए पिंड को इन्द्र चाहिए जहाँ उठाकर रख देवे पिंड बदल नहीं सकता। इस कारण इन्द्र का परिश्रम व्यर्थ समझना चाहिये।

३ हरिणगवेषी देव ने महावीर स्वामी का गर्भ देवन्दा ब्राह्मणी के मुख से निकाला? या उदर से निकाला? अथवा योनि मार्ग से निकाला? मुख से तो इस कारण नहीं निकल

कहना कि गर्भ औदारिक शरीर के रूप में था उस स्थूल औदारिक शरीर का बिना उतर जादि पाइ उतर तथा मुख्य मार्ग से निकलना असम्भव है। यदि उस देवने गर्भ को योनि माग से निकाला तो कहना चाहिये कि ब्राह्मणी व यहाँ ही महावीर स्वामी ने जन्म ग्रहण किया क्योंकि गमरथ बालक का अपनी माता की योनि से बाहिर निकलना हा जन्म लेना कहलाना है।

४ लाक में किसी साधारण पुरुष को भी दा विताओं का पुत्र कहना अपमान जनक माना जाता है फिर भी महावीर स्वामी तीर्थंकर सरीखे लोक पदनीय महापुरुष को श्रुपभदत्त ब्राह्मनी और विद्याध राजा का पुत्र कहना कितना पाप पापजनक वचन है।

५ देवनाग ब्राह्मणी व पेट में भी महावीर स्वामी के आते समय देवनाग को १४ स्वप्न दिखलाई दिये व तदनुसार उसके पर गम कल्याणक हुआ होगा। और विद्याध रानी के पेट में पहुँचने पर उसको भी १४ स्वप्न दिखलाई दिये तब उसके यहा भी गम कल्याणक हुआ होगा। इसलिये भी महावीर स्वामी के दो कल्याणक हुए। यदि किसी एक ही स्थानपर गम कल्याणक हुआ तो प्रश्न यह है कि दूसरे स्थानपर क्यों नहीं हुआ ? क्योंकि नियम है कि तीर्थंकर को माता के पेट में जाने पर ही गम कल्याणक होता है।

६ भी महावीर स्वामी के माता पिता अश्वत्थ राजा रानी थे ? या ब्राह्मण ब्राह्मणी थे ? यदि यह कहा जाय कि राजा रानी थे तो ब्राह्मण ब्राह्मणी क्यों नहीं, जिनके रज वीथ से महावीर स्वामी के शरीर का सिद्ध बना और २२ दिन तक ब्राह्मणी के पेट में उषण रथ रक्त से पाश्चन हुआ ? यदि यह कही कि ब्राह्मण ब्राह्मणी थे तो राजा रानी क्यों नहीं जिनके यहा गम में ६ मास रहकर निर्वाह हुआ।

इत्यादक अनेक प्रश्न अविवाय दोष उपस्थित होने से निष्कप निकलता है कि महावीर स्वामी का गम हरण नहीं हुआ गर्भ हरणवाली बात सचपा असत्य एव कल्पित है।

कर्म सिद्धान्त भी इस कल्पित बात को बहुत बलपूर्वक सचपा असत्य सिद्ध करता है क्योंकि देविये नीच गोत्रकम की उत्पृष्ट स्थिति २ कोडा कोड़ी सागर है। यदि मारीच ने अधिक से अधिक ककलेष्ट परिष्कार ककले व तो उसका २ काडा कोड़ी सागर की स्थिति वाला कमकप होगा। यह २० कोडाकोड़ी सागर की स्थिति वाला कम सिद्धान्त व नियमानुसार दा हजार वष पीछे ही अचना आवाधा काल टालकर उदय में प्रवर्ष आना चाहिये और तदनुसार दा हजार वष पीछे ही मारीच का जन्म नीच वर में नीच गोत्र क उदय से बराबर २ कोडा कोड़ी सागर तक नीच कुल में ही होना चाहिये था। किन्तु ऐसा हुआ नहीं क्योंकि तब समय उषण नीच गोत्रकम का कप हुआ वतजाया जाता है उस समय से लेकर करोड़ी वष तो केवक तक उषण कुशीन मनुष्य शरीर में रहा। तो हजार वष के स्थान पर तो वष समस्त साक्षि उषण गोत्र ही दाता रहा। कभी किसी स्वयं का देव, कभी बही का राजा कभी करो

ब्राह्मण हुआ। इस प्रकार उच्च कुल में ही उत्पन्न होना रहा। यदि मारीच के भव में उसने महावीर स्वामी के भव में रह सकने योग्य बड़ी स्थिति वाले नीच गोत्र कर्म का बन्ध किया था तो बीच-बीच में ऐसे उच्च गोत्रीय भाव कदापि नहीं मिलते थे। बीच-बीच के जन्म में तो नीच गोत्र कर्म का उदय आया नहीं किन्तु महावीर स्वामी के भव में उस नीच गोत्र कर्म का उदय आ गया। यह बात स्वयं श्वेताम्बरीय कर्मग्रन्थ रचयिता विद्वानों के लेख से बिल्कुल असत्य साबित होती है।

श्वेताम्बर ग्रन्थकारों को इतने पर ही संतोष नहीं आया और भी कई प्रकार के दोष लगाये गये हैं। आजन्म ब्रह्मचारी महावीर स्वामी का विवाह होना और सन्तान होना। गला सड़ा पकने लायक भोजन मुनि अचर्या में खाना और केवलज्ञान होने के बाद उनके शरीर में पॅन्क्रिया का रोग होना और उसके दूर करने को औषध का सेवन करना। इत्यादि—

श्वेताम्बरीय ग्रन्थों में भगवान् महावीर स्वामी का विवाह होना और उनके सन्तान होना भी माना गया है।

परन्तु “आवश्यक निर्युक्ति” ग्रन्थ का कर्त्ता यह भी बतलाता है—

“वीर’ अरिद्वेनेमि पास’ मल्लिज च वासपुञ्ज’ च।

ए ए मुत्तणजिणे अवसेसा आसि रायणो ॥ २०१ ॥

राय कुलेसु विजाया विशुद्ध वसेसु खत्ति य कुलेसु।

‘णय इत्थि अभिपेत्था’ इस पदकी टिप्पणी में लिखा है कि—

“स्त्रीपाणिग्रहण राज्याभिपेकोभय रहित्ता इत्यथ।

अर्थात्—महावीर, अरिपनेमि, पार्श्वनाथ, मल्लिनाथ और वासुपूज्य ये पाँच तीर्थङ्कर ऐसे हुए कि न तो इनका पाणिग्रहण हुआ और न राज्याभिषेक। ये क्षत्रिय राजकुलोत्पन्न थे, कुमारा-वास से ही प्रव्रजित हो गये थे।

उक्त ये दोनों ही ग्रन्थ श्वेताम्बरीय हैं एक भगवान् महावीर स्वामी का विवाह होना बतलाता है तो दूसरा विवाह का निषेध करता है। इसलिये दोनों ग्रन्थ अमान्य हैं क्योंकि “कल्पसूत्र” बतलाता है कि ऋषभदेव ब्राह्मण की ब्राह्मणी के गर्भ में आये “आवश्यक निर्युक्ति” ग्रन्थ क्षत्रिय कुल में उत्पन्न बतलाता है—१६ वें तीर्थङ्करी मल्लिकुमारी को भी ‘मल्लिनाथ’ लिखा है। अतः नाथ शब्द पुरुष वाचक है।

“भगवान् महावीर स्वामी का जीवन आदर्श” यह एक बड़ा लम्बा चौड़ा पोथा है और इसके लेखक स्थानकवासी साधु चौधमलजी हैं। पृष्ठ २८५-२८६ वें पर बतलाते हैं कि—

“फिरते फिरते भगवान् एक गृहस्थ के घर पहुँचे उसका नाम ‘आनन्द’ था, उस समय उस गृहस्थ की एक दासी जिसका नाम बहुला था भोजन के पात्रों को साफ करके उन्हें मलना

(भिन्नता) चाहती थी, श्रीग उमके जरा पहले उ २। बतनों को पाँड़ पँडू करके उनमें लगे हुए टू और बुमे हुए चावलों को निकाल कर वह पेंकने में हा थी कि इनमें में एक भिन्नक रूप में अपने द्वार पर खड़े हुए भगवान् को उसने देखा वह उठी समय उनसे बोली इन टू बुमे चावलों को मैं पेंकना चाहती हूँ अगर आप चाहें तो इ २ ले लें। प्रभु ने बिना किसी प्रकार की चरा भी किसी प्रकार की अरुचि या उन्मासी के भाव दिलाया, प्रपन्न विच से उन्हें लेने के लिये ासी के मामले हाय पमार लिये और उसमें प्ररुण कर वहीं खड़े-खड़े आहार किया। फिर प्रभुने यष्टिक ग्राम से विहार कर दिया”।

बात समझ में नहीं आती—क्योंकि चाणवर मनुष्य ने मन मूत्र का भी मक्षण करते हैं, गनी से गनी अपवित्र से अरुचि वस्तु खा जाते हैं फिर ऐसा सबसे खराब पदाथ कौनसा शेष रहा जो पेंकने योग्य हो जिसे जानवर भी न खा सके। और फिर ऐसी कौनसी लाचारी आगद कि पशुओं के भी न खाने योग्य वे चावल भगवान ने खाये।

देविये—और एक गजब की बात। जबकि भगवान महावीर स्वामी को केरलगान हो गया उस बेचलजान होने के बाद बतलाया जाता है कि किसी गोपाल नाम के व्यक्ति ने उन पर तेजा लेखा छाड़ी जिसके दा २ से भगवान महावीर स्वामी को पेचर के दस्त हो गये, उन बस्तों क बाद करने के लिये भगवान ने सीमा नाम क मुनि द्वारा गृरथ के घर से लेकर श्रीपथ का सेवन किया।

श्वेताम्बरीय ‘मगवती सूत्र’ पृष्ठ १२६ से १२७२ तक जो लिखा है उसके पहले सूत्र में जो बतनाया है—

“त गच्छहृण तुम साहा मठियगाम गयरे देवता ए गाहाव—
यणीये गिहे तथरा देवताए गाहावयणीये मम अट्टाप दुवे
कवोय शरीरा उपखडिया तेहिं णो अट्टा अरिथि । मे अरणो प—
रियासि मज्जार कडण कुक्कुड ममए तमाहाराहिं तेण अट्टो ।”

इसकी सरकृत छाया या इसके नीचे लिखी है—

“तद्गच्छ तासिह ? मठिकग्रामे नगरे देवत्या गृहपतिप—
त्या गिहे, तत्र देवत्या गृहपतिपत्या ममार्थ द्वे कपोत शरीरे
उपसृते ताभ्या नैवात्यास्ति अधार्थं परिषासिन मानारं वृत्
कुक्कुर मसक तमाहार (आनय) तेनात्या स्ति ।

यह कथन बीच वाली गाथाओं में लिया है जो विस्तार के भय से यहाँ नहीं लिखा है। आगे पृष्ठ १२७२ पर जो गाथा है उसमें यह बतनाया गया है कि—

“त एष समणस्स भगवओ महावीरस्स तमाहारं अहारियस्स समणस्स विपुल रोगाय के खिप्पामेव उवसने, हट्ठे जाए आरोगो वल्लियशरीरे तुट्ठा, श्रमण.” ॥ इत्यादि
संस्कृत—तहा समणस्स भगवओ महावीरस्स तमाहारमाहार्यं माणस्य विपुल रोगातङ्क क्षिप्रमेवोयशान्तः हृष्टो जान आरोग्यो वलवच्छीशरीरः तुष्टा श्रमणः । इत्यादि

अर्थात्—जब उस आहार को करने वाले श्रमण भगवान् महावीर स्वामी का प्रबल रोग व्याधि तुरन्त शान्त हो गई । भगवान् महावीर प्रसन्न हुए, उनका शरीर नीरोग हुआ । सब साधु सन्तुष्ट हुए ।

उपसंहार

१—जैन साधु सघ की अतीत कालमें—अन्तिम श्रुतकेवली श्री आचार्य भद्रबाहु से पहले भगवान् महावीर, पार्श्वनाथ, नेमिनाथ, आदिनाथ तीर्थंकर के शासन में भी पूर्ण अचेलकनग्न परंपरा रही है, मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के शासन काल में बारह वर्षीय अकाल पड़ा था, तब नग्न परीपह को कुछ साधुओं ने छोड़ करके कुछ वस्त्र लेने प्रारम्भ किये । इससे पहले एक भी जैन साधु रचमात्र भी सचेल नहीं रहा ।

२—भगवान् महावीर माता त्रिशला के ही गर्भ में आये—किसी ब्राह्मणी के गर्भ में नहीं आये, वे आजन्म ब्रह्मचारी रहे, तपः काल में कान में कौले ठोकने आदि का उपसर्ग नहीं हुआ, न केवली अवस्था में पेचिस का रोग हुआ, न उसके उपशम के लिये उनको औषधि सेवन करना पड़ा ।

३—सबसे प्रथम षट्खण्डागम, कपायपाहुङ्क, समयसार, पचास्तिकाय, प्रवचनसार आदि दिग्गम्वरी ग्रन्थों की पुस्तक रूप में रचना हुई है । फिर इन ग्रन्थों का आधार लेकर श्री उमास्वामीने तत्त्वार्थ सूत्र बनाया और लगभग ५०० वर्ष पीछे वीर स० ६८० में वल्लभीपुर में देवर्द्धिगणीजी ने आचार्याग आदि नाम रखकर श्वेताम्बरीय आगम ग्रन्थों की रचना की । जिनमें कि अनेक प्रकार की शिथिलाचारी बातें वर्तमान हैं ।

४—भद्रबाहु आचार्य (अन्तिम श्रुतकेवली) ने कोई ग्रन्थ नहीं लिखा और उनका समाधिमरण श्रवणवेणगोला में चन्द्रगिरि पहाड़ी पर हुआ ।

नोट—भगवान् महावीर की जीवनी के मन्वन्व में श्वेताम्बर और दिग्गम्वर आगम में पर्याप्त अन्तर है । किसी अज्ञात नामक कृपालु लेखक ने यह निबन्ध भास्कर से प्रकाशित करने के लिए भेजा था यह लेखक भास्कर के नियमित पाठक हैं, यह इनके लेखन से स्पष्ट है । इसके लिखे जाने का कारण यह है कि आजकल स्कूल और कॉलेज की इतिहास विषयक पुस्तकों में भगवान् की जीवनी पायी जाती है । यह जीवनी प्रायः श्वेताम्बर आगमों के आधार पर रहती

है, जिसमें बहुत सी असमय और कल्पित बातें जाड़ी गयीं प्रतीत होती हैं। विचारक यदि उन बातों को स्वीकार नहीं करेगा। कुछ दिन पहले की बात है कि हमारे एक मित्र भगवान् महावीर स्वामी की जय गी के अवसर पर आयोजित सभा में भाषण करने गले थे। उन्होंने भाषण करने के पूर्व कहा कि 'माई साहब आपके यहाँ भगवान् का गभापरण की अनगल घटना कैसे जोड़ ली गयी है? मैंने उन्हें उत्तर दिया कि ये केवल एक सम्प्रदाय की मान्यता है। वास्तव में भगवान् का गभापरण नहीं हुआ। हम कोई भी समझदार स्वीकार नहीं करेंगे। इस प्रकार विवाद और सतान का हाना, केवली अरुमा में रोगी हाना तथा औपधि का सेवन करना, अमद्य भक्ष्य करना आदि ऐसी बातें हैं, जो बुद्धिसगत नहीं हैं। इन बातों का यदि प्रक्षिप्त मान लिया जाय तो आगम क्षति नामक दोष नहीं आयेगा। गौड साहित्य की देलादेवी ही ये ऊपर उठाए जाते श्वेताम्बर सम्प्रदाय में चली आई हैं। इहीं पुरानी कुछ मान्यताओं के आधार पर आज अनेक अनेक विद्वान् परम अद्वैतक जैनधर्म में भी मौलाहार और मदिरापान की नींसी पाते हैं। अतएव अतिम तीर्थकर भगवान् महावीर के जीवनवृत्त में स असमय और आगम विराधा बातों का निहान उभय सम्प्रदाय की आर से एक ऐसा प्रामाणिक जीवनवृत्त प्रकाशित हो, जो सारे लिए मान्य हो। श्वेताम्बर आगम में बहुत सी बातें अच्छी हैं तथा तिगम्बर आगम में भी भट्टारकीय प्रयोगों में बहुत सी बातें असगत हैं; अतः दोनों सम्प्रदायों के आगम प्रयोगों की चर्चा उठाना तो हृदय पर चोट करना ही कहा जायगा। पर इस तथ्य से कोई भी विचारक यदि इकार नहीं कर सकता है कि भगवान् महावीर के जीवनवृत्त में मनगढ़त बातों को स्थान नहीं देना चाहिए।

भगवान् महावीर वैशाली के क्षत्रियकुल ग्राम के गणतन्त्राभिरति माराज सिद्धाय की रानी विशाखा के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। तीर्थंकर प्रकृति का बंध होने के कारण इन्होंने इनके गर्भजन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण ये चारों कल्याणक सम्पन्न किये थे। भगवान् आज मवाल ब्रह्मचारी रहे। यह इकलौते पुत्र थे। ३ वर्ष की अवस्था तक घर में रहे। पश्चात् दिगम्बर दीक्षा लेकर बाह्य वर्ष तक मौन हाकर धार तपश्चरण किया। अनंतर केवल ज्ञान प्राप्त कर १ वर्षों तक जनता का धमारदेश देते रहे। केवलज्ञान के पश्चात् शरीर के परम औदारिक हो जाते से आहार और निहार का निरोध हो जाता है। ७२ वर्ष की आयु में पावापुरी में कात्तिक कृष्णा चतुदशी की रात्रि के अवसान और अमानास्या की प्रातःवेला में भगवान् का निर्वाण हुआ। तीर्थंकर जरा, जन्म, मरण, रोग, शोक, क्षुभ, तृषा, मय, आश्चर्य आतंक, धम डेप और मोह आदि अन्तर्ह लोको से रहित होते हैं। अतः भगवान् महावीर में भी उरयुक्त दोषों में से कोई भी दोष नहीं था। ये ३५ अनिश्चय, ८ प्रतिहास और ४ अनतचतुष्टय से युक्त थे। अतः भगवान् की जीवनी एक सब सम्मत और प्रामाणिक निकलनी चाहिए।

—नेमिचंद्र शास्त्री

इस में नहीं जानता वह तो उनमें मानविय भावनाओं का दर्शन करता है। इन मनःपरिधियों का वह मानव का तारा-चलना, चिंतन में अपने हुए जाना है। आयुर्वेद का शीघ्र विज्ञान भाष्य प्रवेश ने कल्पनाओं से उक्त मनःपरिधियों की उपयोगिता का अभाव अवश्यतया किया है। इस भाष्य में एक बात यह बहानी है कि कवि वृत्त और मन्त्रों का मान काव्य के रसको मति देने के लिए करता है उपरगिता गुण उच्छेद प्रति में नहीं रहता। भाष्यकार ने इस विषये हुए उपरगिता गुण का आयुर्वेद की भाँति मतिशय नहीं किया। एकार स्थान पर तो एका ही भाष्य कि अद्भुतमान एकत्र कर लिये गये हैं।

इस मूलन में एक बड़ी त्रुटि भी है कि वैदिक कवि और जन का जो का पूर्णतः उपलब्ध को दिया है। अर्द्धयुगलिनक, धर्मगमाम्युद्यत युद्धेय, जन गणानु, मन्त्रिन्तामहि आदि श्रेष्ठतम भाष्य मन्त्रों में उक्त आयुर्वेद के विषयों का भी कमा नहीं है। इसका रहना इन मन्त्रों के अन्तर् में इतिहास नहीं है कि ये किमा मन्त्रों पर जो कमा पड़े, अतः इनका उपाय होना ही नदिएगा। अतः इतिहास है। कवि का अर्थ संस्कृत मन्त्रों में बना है। हमें आश्चर्य इस बात का है कि भाष्यकार शान्तिवादी दार्ष्टिकी की परामर्श यह है कि उनमें यहाँ कोई भी मन्त्र उनका मन्त्रमाला के अन्तर्गत ही स्थापित किया मुझि नहीं जाता। अन्तर्गत भी प्रत्येक पत्र का अन्वेषण कर ही स्थापित देने है, फिर क्यों उन्नी लेखक का ध्यान इन उर्वेचित मन्त्रों की अन्वेषण नहीं किया। अन्तः,

विश्व लेखक ने एक नयी दिशा शान्तिवादी मन्त्रों के लिए प्रस्ताव की है, अतः यह धारणा के साथ है। अन्तर्गत, नेट मन्त्र अन्ति अर्द्धतम है।

श्रीरामदास घटगी मर्तः—लेखक : भारतभूषण अमबाल प्रकाशक भारतीय ज्ञानवाट, काशा। मूल्य दार्ष्टिकी रूपका पृष्ठ मन्त्रा ११०।

प्रस्तावना में लेखक ने आठ दिग्गो तारक मन्त्रों हैं। इस संदर्भ में 'श्रीरामदास घटगी मर्तः' यह तममा नारक है। इनके नामकरण पर पुस्तक का नाम रखा गया है। यह तीर्थमन्त्र नारक रेडिका टैडनिक की दृष्टि से अर्द्धतम है तथा लक्षणों के विचार और उगके विचार के विषय मन्त्रमाला के दोनो बग—उत्तर और अन्तः का अर्द्धतम विषय मन्त्र दिया है। विश्व और अन्तः की अन्तः ही शिवाय का अन्तः मन्त्रों है। अन्तः में विचार के विचार जैसे करते की शान्ति मन्त्रों का ने मन्त्रों की कमी नहीं। अन्तः मन्त्रों करने में अन्तः मन्त्रों का नहीं मन्त्र मन्त्रों हैं जो अन्तः मन्त्रों की कमी में विचार का यह अन्तः मन्त्र विज्ञान मन्त्रों है—'मुझ पर अन्तः मन्त्रमाला दिग्गो देते मन्त्रमाला कि अन्तः मन्त्रों के अन्तः मन्त्रों का मन्त्र मन्त्र मन्त्रों में मन्त्र है, यह मन्त्रों को को अन्तः मन्त्रों की कमी में अन्तः मन्त्रों है, कि मन्त्रों के अन्तः मन्त्रों के मन्त्रों में मन्त्रों, मन्त्रमाला मन्त्रों

क्या मैं अदर आ सकता हूँ [वैयक्तिक शाली के शृङ्गतावद्ध लेखों की एक माला]—लेखक श्री रावी, प्रकाशक भारताय ज्ञानपठ काशी, मूल्य ढाई रुपये, पृष्ठ संख्या १६० ।

हिन्दी में वैयक्तिक शैली के निबंधों का प्रायः अभाव है श्री रावी ने इस शैली के निबंध लिखकर माँ भारती के भाण्डार को समृद्ध शाली बनाया है। वैयक्तिक निबंधों का लेखक अपनी व्यापक अनुभूति के आधार पर समाज का सच्चा चित्र प्रस्तुत करता है। इस विषय के लेखक की अनुभूति जितनी गहरी होती है, निबंध उतने ही प्रभावोत्पादक होते हैं। प्रस्तुत निबंध समूह के निबंधों का संपूर्ण में विभक्त है—प्रथम और द्वितीय। प्रथम खण्ड में १३ निबंध और द्वितीय खण्ड में २० निबंध हैं। प्रथम खण्ड के प्रथम निबंध में मुझे कुछ कहना है' शीर्षक में ही लेखक ने अपने उद्देश्य की ओर संकेत कर लिया है। 'मवाल बनाम सिगरेट' में उदाहरण के रूप में संकेत किया है कि आज के युवक जीवन में रोजी रोटो राजनीतिक अधिकार एवं अबाध भोगेन्द्रा की वृष्टि की ही प्रधानता है, जिससे संस्कृति, धर्म पान और कला के सम्प्रदाय में किसी की भी विचार करने की आवश्यकता नहीं। समाज के विकार रोगी रोगी का चिकित्सा, कला साहित्य और संस्कृति में है। जीवन की नरस घड़ियों में रस का संचार इहाँ के द्वारा हो सकता है। चित्तशील लेखक ने बड़े ही सुंदर ढंग से स्वस्थ प्रेम कला और संस्कृति के ऊपर प्रकाश डाला है। लेखक ने 'माला यो पेरिये' शीर्षक में लिखा है—“समाज के तीन रहते हुए सुखपूर्वक बढ़ने के लिए चापद यह आवश्यकता पड़ेगी कि आर आन चिन्तारों में पूरी और समाज के नीचे व्यवहारों में आधिक, केवल उतनी स्वच्छ दत्ता का प्रयोग करे जिनसे से आवेक मुल में राधा न पड़े। यव हारों में जिस स्वच्छन्दता के बरतने से समाज को और आरको अस्वास्थ्यकर चोट लगे उसका न बरतना ही बुद्धिमानी भी जान पड़ती है।”

'चिन्तारों में पूव स्वतंत्रता और चर्मों में समाज द्वारा नियंत्रित—कुल्ल इसी आशय का किसी बड़े व्यवस्थाकार का भी कहना है।

इसमें स्पष्ट है कि लेखक ने समाज निर्माण के लिए अपने चित्तशील इन निबंधों द्वारा स्वस्थ और सफल मौलिक सिद्धांतों का प्रयोग किया है। इन निबंधों से व्यक्ति और समाज दोनों ही जीवन कला का पाठ सीख सकते हैं। जीवनोत्थान की पर्याप्त सामग्री इनमें वर्तमान है।

गीत समूह [सन १९४६ से सन १९५५ तक के कतिपय गीतों का संग्रह]:—रचयिता श्री रजनीसूरिदेव मिलने का पता जता प्रकाशन पन्ना ३ ।

श्री रजनीसूरिदेव विद्वान् और कवि हैं। संस्कृत प्राकृत, पाली आदि प्राचीन भाषाओं का अध्ययन और परिशीलन भी आपने किया है। यही कारण है कि इस संग्रह के सभी गीतों की भाषा सरल और प्राञ्जल है। इस संग्रह के सभी गीत तीनों भागों में विभक्त हैं—आशा कामना

और वेदना। सभी गीतों में स्वाभाविक गीत धारा का श्रुतिएण प्रवाह है, ये सौन्दर्य ज्ञान में मानव के अन्तस् को हुआ देने की पूर्ण क्षमता रखते हैं। इनमें संगीत का अनुबन्ध है, पर इसमें भावात्मकता में वृद्धि ही हुई है। गीतों में मार्मिकता और स्नेहविन्दन रसनागत इतनी अधिक गहरी और शीतल है, जिसमें उसके पारन अंतर का मना ही प्रभाव मानवीय कृत्ति पर पड़े बिना नहीं रह सकता। यद्यपि इन गीतों में वैयक्तिक सुख, दुःख, हर्ष, शोक, राग, द्वेष एवं दाम अशु विद्यमान हैं, तो भी कवि ने अपनी भावनाओं का विश्रान्तीन उतारने के लिए पूरा आश्रय किया है। आत्मचेतना की जागृति एवं लयपूर्ण भाषा में आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति सर्वत्र वर्तमान है। निम्न पंक्तियों में कलना के गाय रागतर का कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसका पाठक स्वयं अनुभव कर सके।

ऊषा की नीलम शय्या पर—

बिखरे हैं जावरु-अरुण राग

धरती के श्यामल अचल पर—

कर रहे रश्मियों के पराग,

आगे ५६ सत्यक गीत में कलना, विचार और भावना की त्रिवेणी में निमज्जना करना हुआ कवि क्लान्त एवं त्रस्त विश्व में निश्वास लावता गान्ध का मार्ग टूट रहा है। आ. जगत् के राग विरागों के गगायमुनी मगम पर खड़ा होकर करता है—

विश्व खोजता चलता हूँ।

पता नहीं, मुझको जग छलता या मैं ही जग को छलता हूँ ?

तिमिर-पथ पर भटक रहा है

शूलित-कीलित-सा नवयोवन,

आतप-मलान मृदुल किसलयसा

सूख रहा भावों का उपवन,

पता नहीं, मुझ से जग जलता या मैं ही जग से जलता हूँ ?

इस प्रकार इस सग्रह के सभी गीत सरस और सुन्दर हैं, वैयक्तिक अनुभूति में सामाजीकरण हैं। हम नवयुवक कवि की उन्नति की कामना करते हैं और साथ ही उनसे अनुरोध करते हैं कि उनकी अन्य रचना हमें शीघ्र ही पढ़ने को प्राप्त होगी। इस सरस रचना का पाठकों को रसास्वादन करना चाहिए। गेट-अप, जिल्द, छपाई आदि नयनभिराम हैं।

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. XXI

JUNE 1955

No 1

Edited by

Prof A N Upadhyaya M A, D Litt
Prof Jyoti Prasad Jain, M A LL B
Sri Kmata Prasad Jain, M R A S D L
Pt K Bhujbali Shaetri, Vidyabhushan
Pt Nemi Chandra Shastri Jyotisacharya

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
ARRAH BIHAR INDIA

Annual Inland Rs 3

Single Copy Rs 1/8

CONTENTS.

| | Page |
|--|------|
| 1 Jivaka Chintamani Muktalambakam-Chapter on Liberation —Prof A Chakravarti, M A, I L S (Retd) | 1 |
| 2 Iconography of the Jain Goddess Saccika —Sri R C Agrwala M A Superintendent Archaeology and Museums, Udiapur Circle, Udiapur . | 13 |
| 3 Pūjyapāda Dīvanandī —Prof Jyoti Prasad Jain M A, LL B | 21 |
| 4 Jaina Gurus of the name of Pūjyapada —Prof Jyoti Prasad Jain M A, LL B | 29 |





Om

JAINA ANTIQUARY

“ श्रीमत्परमगम्भारस्याद्रादामोषलाञ्छनम् ।
नीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं विनशासनम् ॥ ”
[अथलक्षकम्]

Vol XXI
No 1

ARRAH (INDIA)

JUNE
1955

JIVAKA CHINTĀMANI
Muktialambakam—Chapter on Liberation
By
Prof A Chakravarti M A IES (Rtd)

Section I—Vijayā Devī's Renunciation

The facts narrated below relate to the period of Jivaka's reign. He conquered all his enemies and regained the Kingdom lost by his father. Once again he established peace and prosperity. By his generosity he spent his wealth liberally for the welfare and happiness of his subjects. To satisfy the desire of his Queen Mother, he

[The Jivaka Chintāmanī is the foremost of the five Mahākāvya's and is undoubtedly the greatest existing Tamil literary monument. It remains unrivalled in Tamil literature for its grandeur of conception, elegance of literary diction and beauty of description of nature. Professor A Chakravarti is well known for his devoted studies in Tamil literature and his excellent monograph *Jaina Literature in Tamil* was published through the pages of the *Jaina Antiquary*. It is very good of him that he is giving to us an exhaustive Summary of the Chapter on Liberation from the *Jivaka Chintāmanī*. The Tamil classic has its ideological and cultural characteristics and it deserves to be studied in comparison with similar classics dealing with the life of Jivaka in Sanskrit, Kannada and other languages. For such a study Professor Chakravarti's resume is of great value. Editor]

raised a huge and grand temple near an Aśoka tree for the Omniscient Lord who destroyed the 8 kinds of Karma and who realised the 8 divine qualities. A village surrounded by fertile paddy fields was set apart as a gift to the temple for the performance of daily pūjā and celebrating the annual festival for the Omniscient Lord. In memory of all those who protected and helped Jivaka from the day of his birth upto his victory, the Queen Mother dedicated all the happy results of these good deeds to them, because these great souls will not accept any material reward as a mark of her gratitude. When she landed near the cremation ground and gave birth to a child, the goddess of the place, took care of her and after delivery, carefully led her to Āśrama of Tāpasis. In grateful remembrance of this goddess, she had another temple raised at that place in the name of the goddess. The peacock vehicle in which she escaped from the Capital and which safely brought her down to land, she did not forget. She had a portrait of that always in her chamber. The child Jivaka was brought up by great merchant Kandukadin who secured as companions for his adopted child 504 children. The Queen Mother arranged with her brother Govinda to feed 505 children every day with the pure cow's milk and also to feed them with rich food. It was only then that the Queen Mother got rid of her anxiety and care.

Sunandā, the adopted mother of Jivaka, one day approached the Queen Mother. She was embraced with joy by Queen Mother and was praised for the service rendered to Kuru dynasty for saving and nursing the child Jivaka. Then she called the 8 queens of Jivaka with great affection and told them as if communicating a secret as follows —“You, 8 queens, represent the 8 garlands over the crown of the State which I saw in my dream. May God bless you with children. May you all have unswerving faith in the Lord.”

After meeting her 8 daughters-in-law, she called her son, the King, to come near her. The King approached her humbly, worshipped the Queen Mother with the flowers and bowed before her touching her feet with the crowned head. After respectfully hailing his mother, he was asked to sit by herself. The Royal Mother addressed her son as follows.—

“You must have heard from others all that had happened to your father. Now My Dear Worshipful Jivaka I will tell you all that has happened to the great King, your father. Please listen to me. The King who was enjoying the royal prosperity was unfortunately clouded by lust and sensual pleasures like the beautiful moon at the time of eclipse. So he became a slave to sensual pleasures. He did not care about the disrespectful remarks of his people. He would not accept the wise advice of his learned Ministers. He spent his life like a mad elephant beyond the control of its Mahout. His Ministers realising that their presence would be of no use left their services. Just as the sea breaks the protective embankments and submerges the coastal city all the protective advice rendered by his Ministers was of no use to protect the king from being drowned in the mere sensual pleasures. He forgot all his kingly duties. All his friends and relations went away in disgust leaving him alone. This helpless situation is but the result of his own conduct. You plant a castor seed but you cannot expect a hard and weighty ‘Acha tree to grow out of that seed. Realising the helplessness of the King, the treacherous Army Commander, Kattiyangaran, to whom he delegated all his powers, undermined the King’s sovereignty and usurped all the powers to himself. The king realised too late the dangerous situation. In order to save the unborn prince—yourself—he put me on the peacock vehicle and bade me to quit safely. After my escape, the King unprotected, faced the situation and became a victim in the hands of the treacherous commander. This tragic end is but the result of the King’s own conduct. When you sow evil seeds you cannot harvest good. Oh! My Son, the ruler I narrate all these to you so that you must beware of sensual pleasures. How the time is ripe for me to renounce the world and spend my time in a holy monastery. Hearing these sad words of his mother, the king was shocked and swooned. At once his queens and the women servants of the Royal Household sprinkled rose water on his face and gently fanned him. Then he got up as if waking from his sleep and asked the Queen Mother to communicate her message to him. Then she addressed him in the following words

“We are all deeply immersed in the desire to live. We never know the exact period of life that we are likely to have from birth

to the end. But at the end when death overtakes us, we feel helpless to save our life from the jaws of Death. At that time, the only thing left to us is to feel sorry for uselessly wasting our life. We cannot get back all those wasted days with the hope of spiritual regeneration. That is impossible for us. Death will necessarily swallow us as the glutton swallows rich food. The end is certain. In spite of such a life, marked by birth and inevitable end, we are fortunate enough to be born as men in happy circumstances. Born in such a happy environment, you must take advantage of the situation and sincerely make effort for your spiritual development by walking the path of righteousness. Instead of walking this path of righteousness, if we live immersed with the pleasure in the midst of wife and children, we are sure to be frustrated. Persons who are brought together by the tie of family affection will all get dispersed at the critical moment, just like rain drops get dispersed by strong wind. Hence, I advise you not to become a slave of environment. The way of desire for sensual pleasure, family affection etc.—all these things prevent your spiritual development. Hence, I advise you not to show affection for your dear ones because such an affection is an impediment to spiritual development. Take courage to forget that I am your Mother and let me have freedom to adopt my own way of ascetic life”.

Again the Queen Mother addressed the following words on the importance of virtue. “Instead of being intoxicated with sensual pleasures in the company of beautiful maiden utterly blind to the value of virtue before old age overtakes you, my dear friends, attend to Tapas and Dharma—penance and piety. Body is but an abode of painful diseases. It serves as a delicious food for death. Before the body loses its health and becomes decrepit, try to share your food with the needy and cultivate noble qualities achievable through the instrument of human body. After all, body is but a cart and man is its driver. Life in the body is the axle of the cart. If by long and constant use, the cart becomes worn out and dilapidated, there is no possibility of reconditioning it by introducing a new life, a fresh axle. But body gets abandoned finally as useless. In some cases, the body, instead of lasting till the end of the date of the age, may get destroyed even earlier by getting struck in the stream of

sorrow and misery. Hence before this cart becomes us less by losing its axle of life, man must achieve all the benefits derivable from that body. Therefore, my friends, try to achieve maximum moral benefit as your fare in driving the cart. Ordinarily, men are ruled by desire. They do not try to achieve moral greatness. They do not know the exact nature of Dharma. They slavishly pursue this desire for pleasure. Realise that this object of desire is quite worthless. Hence, desist pursuing such worthless desires. We see in this world persons living in great prosperity reluctantly eating their rich food offered in golden plate by their beloved wife. The very same person as a result of adversity may lose all his wealth and may go about begging for food carrying a mud plate in his hand. My dear friends realise that wealth is nothing. Direct your attention on spiritual discipline. For that is the only thing worthy of achieving. Again, we see in this world even the queen in the royal household who was accustomed to drink milk in a golden cup, may lose all her royal glory as a result of evil destiny. Filled by poverty and hunger she may go from door to door begging for food. Such is the nature of the world. Hence, never desire wealth my friends. Pursue righteousness. We see in this world such poverty and misery. A woman may have only small rag scarcely fit to cover her nakedness. Thus covering her nakedness with one hand and the rag she may lift her other hand to pluck a few leaves for cooking. She may cry out in that situation cursing her destiny that has led her to this shameful misery. My dear friends after witnessing such things in life, never approach wealth. Devote yourself to Tapas and spiritual discipline. Even a young man with beautiful and well built body which will be a source of joy for the young women to look at, may become old and bent in body and may require a support of a stick to stand aright. Thus you realise that youth is but a ephemeral event in life." All this moral advice the Queen Mother, addressed for the benefit of her son Jivaka.

Carefully listening to these words of the Queen Mother, Sunanda took the advice as also applicable to herself. She turns to Jivaka and addresses him as follows — "Oh noble King, Queen Mother's decision to renounce the world may be considered either good or bad. But I entirely accept that decision. I have also decided to

follow her ' Hearing these words of Sunandā, Jivaka stood speechless not knowing what to say. Thus, leaving Jivaka behind, both the mothers left the place for the monastery. The other ladies at the royal household stood there helplessly shedding tears. The City began to cry in grief. The people in the City did not cry so much even on that day when the Queen escaped from the City on her peacock machine. The noise of crying was similar to the roar of sea during cyclone. The Queen Mother's palankin was followed by 1,000 others carrying 1,000 other women also who followed the Queen Mother. All of them reached the holy Āśrama presided over by Pomma, the Mother Superior of the sacred Āśrama.

The Queen Mother surrounded by 1,000 followers got down and entered the holy Āśrama and bowed before the chief ascetic Pomma and begged her to admit herself and all as her followers into her Āśrama and to guide them to cross the ocean of Saṃsāra. At this request from the Queen Mother, the Chief of the Āśrama replied thus. 'Spiritual discipline through ascetism is an extremely difficult experience. But leading a life according to the path of righteousness without undertaking ascetism will make life in this world happy and praiseworthy and may also result in deriving happiness in Svarga hereafter. Hence you ladies, desist from asceticism.' At this word of warning, the Queen Mother replied "Oh! Holy Mother. We will listen to your preaching of Dharma later on. Please initiate us now in the ascetic life." At this importunate request, the female ascetics in the Āśrama began to make all the necessary arrangements for the ceremony of initiation. The place was decorated with flowers and leaves. Lights were lit. The seat was beautifully decorated. The Queen Mother's feet were washed with milk. Her royal dress of silken stuff was all removed. The white cotton cloth was tied round her breast. According to the rules of spiritual discipline, other ladies had also undergone the same ceremony. Their ornaments and garlands were all removed. Ordinary cotton cloth was tied round their breast. Then the Queen Mother and Sunandā and all the other ladies who followed them were seated facing east. Then all their beautiful dresses were cut by the female ascetics of the Āśrama and were taken away in plate from the place. After the ceremony, all the ladies appeared like peacocks which shed their feathers. Thus

living in the Āsrama the ladies adopted their ascetic life. They had found faith in the sacred scripture revealed by the Lord Omniscient. They were all seriously engaged in spiritual discipline. They filled their souls with spiritual qualities. Their body made of bones and flesh when filled with many spiritual qualities resembled a golden pot filled with jewels and precious stones.

The noble ascetics remained in the Āsrama quite indifferent to the world outside. Neither the praise nor the blame from the people around had any reaction in them. They were deeply interested in the study of the scripture. They were not subject to any doubt or delusion. Their faith in the world revealed by the Lord was shining like a beacon light before the whole world. One day the King followed by his queens went to the Āsrama all carrying flowers of worship. There they worshipped at the feet of the Queen Mother pouring flowers at her feet. Then he addressed as follows —

‘Oh Holy Mother! In the days gone by, I had not the good fortune to live with you. Now after the victory, I hoped to be with you in the palace. But you have renounced the world and the royal environment. I beg to make one request. Be pleased to stay in the City so that I may have the pleasure of visiting you often. The holy ascetic the Royal Mother made no reply to this request. She remained silent like a statue. Then, Pomma the Mother Superior of the Āsrama interven'd and replied as follows. ‘The good lady remained silent without replying in order to make you realise that the old domestic relation will not hold good any more. You may forget and give up the feeling of the old relationship. Hearing these words of explanation, the King together with his queens began to sob in grief. Then the King spoke as follows. Oh Sacred Mother, I do not want to claim and re-establish the old filial affection and be frequenting Āsrama. My sole desire to visit the Āsrama is to see and realise the courage of the noble ascetics who are devoted to Lord and who carry out the spiritual discipline enjoined in the holy scripture.”

Hearing these words from the King all the female ascetics of the Āsrama were moved by sympathy and begged the ascetic Queen Mother to utter a word of comfort assuring her that such a kind

reply would not in any way interfere with her faith and devotion to the spiritual discipline. At this request of the female ascetics of the Āśrama, the Queen Mother turned to the King and spoke as follows: "The very object that you mention as yours to perceive those that follow the holy Dharma in directing the people to walk the path of salvation, is identically the same object to realise which we renounce the world and join the holy Āśrama." At this the king spoke as follows: "Holy Ascetic, you took no trouble to bring me up as your son. Now your renouncing me and the world is but proper." Then turning to Sunandā, he said: "Since you took trouble to bring me up, you are my real mother. Up to now you have not done anything to cause me pain. Now you renounce the world and me. You have been cruel to me, you cruel and heartless lady."

Thus, he expressed his grief before her like a wounded cub struggling in pain before his mother. Then Sunandā spoke as follows: "Let the past be forgotten. Having lost my husband, I remained with you without grumbling. For this the world blamed me that instead of mourning my lost husband, I remained in royal glory living in your palace. Now when the royal Mother spurned as trifle the wealth and prosperity of the royal household and entered as an ascetic in the Āśrama if I remained in the palace enjoying the prosperity of royal household, the world will curse still more. Do you really want me to be an object of blame and ridicule?" With these words, she comforted the king and asked him to go back to the palace and attend to State duties. Then the Ascetic Queen Mother addressed the Nandattan Sunandā's son, in the following words: "Do not feel pain at heart because we renounced the world and entered the Ascetic Āśrama. We will never forget you. We wish you a happy future." They were happy hearing these words.

Thereafter, he praised the ascetics consistent with their stay in the holy Āśrama, left the Āśrama and went back to the palace. His queens then took leave of their mothers-in-law and followed the king and entered the royal palace. Thereafter, the noble Queen of the late King Sachchandan with beauty well known to the whole world considered the happiness of the world as merely a bubble, renounced the world, gave up all desires for wordly things and strictly walking

